संत एकनाथकी पूजाके बालकृष्ण

वर्ष ४५

वैदिक धर्म

अंक ७

क्रमांक १८६ : जुलाई १९६४

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.१५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता– (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता– (द्वितीय भाग)

अश्विनौ आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	१)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता– (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	.२५
३ शुनःशेप ,, ,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	.२५
५ काण्व ,, ,,	२)	.२५
६ सव्य ,, ,,	१)	.२५
७ नोधा ,, ,,	१)	.२१
८ पराशर ,, ,,	१)	.२५
९ गोतम ,, ,,	२)	.३७
१० कुत्स ,, ,,	२)	.३७
११ त्रित ,, ,,	१.५०	.३१
१२ संवनन ,, ,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	.५०	.१२
१४ नारायण ,, ,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि ,, ,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१)
२० भरद्वाज ,, ,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. बलसाड]

वैदिकधर्म

पाशोंसे मुक्तता

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद-
वाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते
तवानागसो अदितये स्याम ॥

(अथर्व. १८।४।६९)

हे (वरुण) वरणीय सत्पुरुष ! (अस्मत्) हमारे (उत्तमं मध्यमं उत अधमं) उत्तम, मध्यम और अधम पाशोंको (श्रथय) शिथिल करो, (अध) इसके बाद हे (आदित्य) अखण्डनीय और तेजस्वी सत्पुरुष ! (अन्-आगसः वयं) पापसे रहित होकर हम (तव व्रते) तेरे बताए मार्ग पर (अदितये) अखण्डनीयताके लिए (स्याम) चलें ।
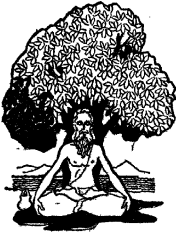
प्रत्येक मनुष्य आत्मिक, मानसिक और शारीरिक इन तीन बन्धनोंसे बंधा हुआ है। इन तीनों बंधनोंसे मुक्त होकर ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इन बंधनोंसे मुक्त होनेका एक उपाय है कि सत्पुरुषोंके बताये हुए मार्ग पर चले। सत्पुरुषोंका जीवन हर मनुष्यके लिए प्रकाशका काम देता है। इसलिए उन्नतिके अभिलाषी मनुष्योंको सत्पुरुषोंके जीवनसे शिक्षा लेनी चाहिए।

रूसमें वेदोंका सन्देश

वेद और टॉलस्टॉय

(लेखक— श्री अलेक्जेण्डर शिफमेन)

लिओ टॉलस्टॉयने भारतीय प्राचीनसाहित्यों एवं महाकाव्योंका बडे मनोयोगसे अध्ययन किया था।

टॉलस्टॉयका ध्यान सर्वप्रथम वेदोंकी तरफ आकर्षित हुआ था। वेदोंके रशियन विद्वानों और अन्य पाश्चात्य वेद विद्वानोंकी कृतियोंसे उन्होंने वेदसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया ही, पर उनके इस ज्ञानवर्धनमें उस समय गुरुकुल कांगडीसे प्रकाशित होनेवाले "वैदिक मेगज़ीन" से भी बडी सहायता मिली। यह मासिक उनके पास नियमित रूपसे भेजा जाता था। इस मासिकके सम्पादक एवं प्रकाशक आचार्य रामदेव लिओके मित्र थे।

वेदोंकी उन्नतम भावनाओंने लिओको बहुत आकर्षित किया। इनके प्रिय विषय नीतिशास्त्रसे सम्बन्धित मंत्रोंकी तरफ उनका विशेष ध्यान था। वेदोंमें वर्णित मानवप्रेमके विचार उन्हें बहुत पसन्द आए। जब उन्होंने संस्कृत महाकाव्योंका अध्ययन किया, तो उन्होंने अनुभव किया कि संस्कृत साहित्यका खजाना अमर है।

टालस्टायके अनुसार वेद, उपनिषद् आदि ग्रंथ विश्वकी सम्पूर्ण पुस्तकोंसे उत्कृष्ट हैं। उनका यह मन्तव्य था कि ऐसी रचनायें हर युगमें प्रजाओंको अपनी तरफ आकर्षित कर सकती हैं। "व्हाट इज़ आर्ट" नामक निबन्धमें वे लिखते हैं– "शाक्य मुनिका इतिहास और वेदके स्रोत उन्नत भावनाओंको व्यक्त करनेवाला होने पर भी इतना सरल है कि अशिक्षित भी सरलतासे समझ सकता है। उस समयके लोग आजके श्रमजीवी वर्गकी अपेक्षा भी कम शिक्षित था, तो भी वह सरलतासे समझ सकता था।" (इस स्थल पर लिओका कथन असंगत प्रतीत होता है क्योंकि उस समयका वर्ग सभी विद्याओंमें निष्णात और सुशिक्षित था, ऐसा स्वयं वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है– सम्पादक)।

टॉलस्टॉयने वेदोंका अध्ययन करके उनका सन्देश रूसमें फैलाया भी। उन्होंने "रेज ऑफ रीडिंग", "थॉट्स ऑफ मेन" आदि संग्रहोंमें उन्होंने वेद और उपनिषदोंके वचनों का भी संग्रह किया है। उदाहरणस्वरूप कुछ वचन यहां देते हैं—

चोर चोरी न कर सके, उठाईगीर उठा न सके केवल उतना ही धन संचय करना चाहिए।

दिनमें इतना और ऐसा काम करना चाहिए कि रातमें स्वस्थ और शांतचित्तसे मनुष्य सो सके।

जो कुछ नहीं करता वह बुरा करता है।

जो अपनेको जीत लेता है वही वास्तवमें शक्तिशाली है।

इत्यादि।

टॉलस्टॉयका ध्यान वेदोंके बाद भारतीय महाकाव्योंकी तरफ विशेषकर महाभारत और रामायणकी तरफ अधिक गया।

रशियन और पश्चिम योरोपकी भाषाओंमें किए गए श्रेष्ठ अनुवादोंके द्वारा टॉलस्टॉयने इन ग्रंथोंका ज्ञान प्राप्त किया था।

रामायणके दो भागोंका फ्रेंच अनुवाद जो १८९४ में प्रकाशित हुआ था आज भी यास्नाया योल्याके ग्रंथालयमें मौजूद है।

गीता पर प्रेम

महाभारतके सभी अंशोंमें गीताका भाग लिओको अतिशय प्रिय लगा। अपने दैनन्दिनमें और पत्रोंमें टॉलस्टॉयने

गीताका बारबार उल्लेख किया है। भारतीय महाकाव्योंके विषयमें उन्होंने कई बार अपने मित्रोंसे भी वार्त्तालाप किया।

एक भारतीय विद्वान् श्री एस्. आर. चीतलने एकबार लिओको लिखा था– कि " महाभारतके मुख्य विचारोंको तो अभीतक स्वीकार ही नहीं किया है " इसके उत्तरमें टॉलस्टॉयने १९०८ के फरवरीके एक पत्रमें लिखा– " तुमने जो लिखा है कि मनुष्यको अपनी तमाम आध्यात्मिक शक्तियोंको कर्तव्य पालनेके लिए खर्च करनी चाहिए, गीताके इस सिद्धान्तके साथ मैं सहमत नहीं हूँ, वह ठीक नहीं है। इस सिद्धान्त पर तो मैं कबसे विश्वास कर चुका हूँ। उस सिद्धांतको मैं हमेशा याद करता एवं तदनुसार आचरण करनेका भी प्रयत्न करता रहता हूँ। इस विषयमें मैं अपना अभिप्राय समय समय पर अपने पत्रों और लेखोंमें व्यक्त करता आया हूँ।"

महाभारत और रामायण

लिओके पत्रों और दैनन्दिनमें विशेषकर उनके लोकोपदेश संग्रहमें " महाभारत " और " रामायण " के अनेकों बोधवचन स्थान स्थान पर मिलते हैं। इन बोध वचनोंके अलावा इन संग्रहोंमें दन्तकथा, लोककथा और कहावतें भी मिलती हैं। ये भारतीय किसानोंमें आज भी मिलती हैं।

भारतीय साहित्य रूसके घर घरमें पहुँच जाएँ, ऐसी लिओकी अभिलाषा थी। इस कारण इन साहित्योंका अनुवाद करते हुए उनकी राष्ट्रीयता आदि अनेक पहलुओं पर अधिक ध्यान रखा और इस कार्यमें उन्हें सफलता भी मिली।

टॉलस्टॉयके कारण भारतीयोंकी प्राचीन विद्वत्ता और भारतके वीररसपूर्ण महाकाव्योंके प्रति रूसवासियोंके प्रेमका उदय हुआ, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

रूसमें भारतीय तत्वज्ञानको फैलानेमें भी टॉलस्टॉयका बहुत बडा हाथ है। शङ्कराचार्य, रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द आदियोंकी विचारधाराओंका जो परिचय रूसवासियोंको हुआ, वह भी टॉलस्टॉयके परिश्रमका परिणाम है। भारतीय तत्वज्ञानके ग्रंथोंका टॉलस्टॉयके द्वारा किए गये अनुवाद बौद्धधर्मविषयक उनके निबन्ध और भारतीय साहित्यकारों, महाकाव्यों और लोकसाहित्योंको रूसी जनतामें लोकप्रिय बनानेका उनका प्रयत्न, यह सब रूस और भारतके बीचके मैत्रीकी कडियां हैं, जो टॉलस्टॉयकी आभारी हैं।

भगवानका उपासक

(लेखक— श्री वैद्य लालचन्द एच. परीख)

⊙

भगवान्का उपासक जिसे सोमरसकी पावन धारासे आनंद प्राप्त हो रहा है, वह तैरता हुआसा दौड़ता है, वह शान्तचित्त उपासक तैरता हुआसा दीखता है।

भगवान्का निकटवर्ती उपासक शान्तचित्त स्थितप्रज्ञ हो जाता है, उसका मन एकाग्र, पूर्ण निरुद्ध और निश्चल रहता है। उसमें सन्देह नहीं होता, वह सञ्चय नहीं करता, नित्य आशावादी रहता है कभी निराश नहीं होता। वह सब काम सोचसमझकर करता है, अतः उसमें विषाद नहीं होता। उसमें सद्विवेक जगा रहता है इसलिये उसमें कभी भव-साद नहीं होता, वह कर्तव्यपरायण व्यक्ति विषयातीत हो जाता है। कलुष वासनाएं उसे घेर नहीं सकती। वह विजय-शील व्यक्ति दुरितों पर विजय पाता है। उसकी जीवनचर्या कीचड़में कमलके समान स्वच्छ और पवित्र रहती है। वह अलिप्त रहता है उसमें मोह नहीं होता, अतः शोक भी नहीं होता।

वह किसीको सताता नहीं, इससे उसे भय नहीं होता। वह सबसे विमल व्यापक प्रेम करता है। उसमें छिपाव नहीं होता, अतः वह घबराता नहीं। उसकी परिस्थिति, भगवान-की असीम कृपासे, जो उपासक पर निरंतर बरसती रहती है, सदा उसके अनुकूल रहती है। आततायी असुर स्वार्थी लोग उससे डरते है पर वह स्वयं न किसीको डराता है और न किसीसे डरता ही है। वह सदाचारी ऋताचारी व्यक्ति सदा एकरस विपत्तिमें धीर गम्भीर रहता है, विपत्ति उसे विच-लित नहीं कर सकती अतः वह अपने भगवान्के प्रेममें मस्त रहता है। यही कारण है कि वह वेगसे चलता है। उसे अपने जीवनलक्ष्य तक सत्वर पहुंचता है उसे तो उसीकी धुन रहती है। वह मन्दी परम शान्त प्रसन्नचित्त व्यक्ति सदा उल्लासपूर्ण स्फूर्तियुक्त रहता है, वह कभी उदास नही होता, क्योंकि जीवनस्रोत, प्रेमस्रोत, ज्ञानस्रोत रूप भगवान् उसके हृदयमें परिपूर्ण है, ऐसा उसका अनुभव है।

वह प्रेममय, आनन्दमय, कल्याणमय, मंगलमय भगवान-का नित्यका साथी है, उसमें प्रमाद नहीं, आलस्य नहीं, अतः वह कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति पूर्ण आयु तो पाता ही है, भगवान्में पूर्ण विश्वास होनेसे और निरंतर भगवान्से नवजीवन प्राप्त करते रहनेसे, उसकी इच्छा सौसे भी अधिक वर्षतक इस लोकमें उपकार करते रहनेकी होनेसे, उसके जीवनमें सौ वर्षसे अधिक भी उत्साह, साहस और लगन बनी रहती है और वह कर्मठ नित्यसत्वस्थ आत्मवान् पुरुष अपनी आत्मज्योतिमें परमज्योति अनुभव करता हुआ भगवान्के उपकाररूपी महाव्रतमें व्रती रहता है और जीवनके परमानन्द अनुभव करता रहता है। यही रहस्य उसके दीर्घ जीवनका है। वह मन्दी है परम शान्त एकरस रहता है, कर्तव्यपथ सुपथ सत्पथसे कभी विचलित नहीं होता।

भगवान्की कृपासे ऐसे मन्दी नित्य आनन्दयुक्त प्रसन्न-चित्त पुरुषको आदित्यजनों दिव्यजनोंका सत्संग प्राप्त होता रहता है जो उसका जीवनपथ सदा आलोकित रखते हैं। ऐसा मन्दी आत्मतृप्त आत्मक्रीय दिव्यानन्द युक्त रहता है। ऐसा व्यक्ति तैरता हुआसा दौड़ता है, वेगसे अपना कर्तव्य किये जाता है।

ऐसा व्यक्ति निरंतर भगवान्के साथ रहता है। वह परम दयामय, करुणामय, भक्तवत्सल भगवान्का हो चुका होता है और भगवान्का रहता हुआ वह जगत्में लोकप्रिय और लोकमान्य होजाता है। ऐसा मन्दी आनन्द विभोर व्यक्ति शान्तचित्त रहता हुआ सदा प्रगति करता है वह कभी अक-र्मण्य नहीं रहता, कभी निष्क्रिय नहीं रहता। उसमें पवित्र-तम, दिव्यतम, सूक्ष्मतम सोम उसकी प्रज्ञामें रहता है उसमें

इन्द्रशक्तिका विकास होता रहता है, विघ्न, बाधाएं छिन्न भिन्न हो जाती हैं। ऐसे मनुष्यका व्यक्तित्व महान् होता है पर उसमें कभी अभिमान नहीं होता, विकृत अहंकार उसे नहीं सताता, वह दिव्यजीवन ज्योति अपनेमें अनुभव करता रहता है जो उसका जीवन पंथ प्रकाशित करती है और वह निर्भ्रान्त और अभय रहता हुआ अपने जीवनका निरंतर विकास करता हुआ स्वयं पवित्र ज्ञानमय भक्ति भावरूपी सोम धारण किये रहनेसे स्वयं भी पावन होजाता है।

ऐसे मन्दी परम शान्त व्यक्तिके सम्पर्कसे लोग पवित्र हो जाते हैं पर उसमें पवित्रताका अहंकार नहीं होता। उसका अहंकार विशुद्ध चेतनामें बदल चुका होता है, वह अब भगवान्‌का है इसलिये उसका भी सभीसे प्रेमका नाता है, वह सभीका है, वह अनुन्नत लोगोंसे घृणा नहीं करता और अपनेसे अधिक उन्नत लोगोंसे वह कभी ईर्ष्या भी नहीं करता, अतः उसमें द्वेष अब नहीं रहता। उसका प्रेम व्यापक और आकर्षक होता है, उसके सच्चरित्रका सौरभ सबको अपनी ओर खींचता है।

भगवान् मुझे भी अपना सखास्तोता और निकटवर्ती उपासक बनालो॥

आचार्य प्रवर

स्व० स्वामी आत्मानन्द

एक संस्मरण

लेखक— श्री भद्रसेन शास्त्री

★

प्रथम दर्शन

मैं १९५४ में दयानन्द उपदेशक विद्यालयमें प्रविष्ट होने के लिये गया था। उन दिनों आर्य समाज जगाधरीका वार्षिकोत्सव था, आचार्यजी एवं सारे विद्यार्थी वहां पर गए हुये थे। प्रवेशकी स्वीकृतिके लिए आचार्यजीके पास गया, उस समय आचार्यजीने कहा– यहां प्रविष्ट करनेसे स्वा. रामेश्वरानन्दजी नाराज तो नहीं होंगे। (क्योंकि बिना पूछे मैं गुरुकुल घरौण्डासे चला आया था) इन शब्दोंने मेरे ऊपर आचार्यजी की सत्यपरायणता और निर्वैरताका अपूर्व प्रभाव डाला।

(प्राइवेट संस्थाओंमें प्रायः विद्यार्थियोंके आकर्षणकी कसमकस रहती है।)

भाषण शैली

आचार्यजी की भाषण शैली ओजपूर्ण, मधुर, एवं आकर्षक थी, सर्वप्रथम कुछ भाषण जगाधरीमें सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्यजी जब भाषण देते थे, उस समय भाषणके आकर्षक शब्द जनताके हृदयोंको अनायास मोह लेते थे। मुख मण्डलकी दिव्य आभा, तेजपूर्ण शब्द, अपूर्व विद्वत्ता, हृदयग्राहिणी शैली, एवं विचारोंकी सत्यता श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देती थी। आश्रममें ब्र. सेवा रामजी एवं उनकी वृद्धा माताजी रहती हैं, वे गुरुकुल रावलमें भी स्वामीजीके पास रहते थे। दोनोंने गुरुकुल एवं आश्रमकी बहुत सेवा की है और कर रहे हैं। एक बार आर्य समाज यमुना नगरके साप्ताहिक सत्संगमें आचार्यजीके भाषणको सुनकर मैंने माताजीसे जिक्र किया सुनते ही माताजीने बडे बडे गौरवसे कहा– "आचार्यजीके तुमने क्या भाषण सुने हैं। भाषण तो हमने सुने हैं। अब तो स्वामीजी बूढे हो गए हैं। जब गुरुकुल रावलके उत्सव पर हजारोंकी उपस्थितिमें आचार्यजीके भाषण होते थे, तब आचार्यजी की भाषण शैली एवं प्रभावका अनुमान लगाया जा सकता था।

लाडवामें यज्ञ

सम्भवतः १९५५ में ला. रघुवीरजीने आचार्यजीके तत्वावधानमें ऋग्वेद पारायण यज्ञ करवाया था। उन दिनों निकटसे यह अच्छी प्रकारसे देखनेका अवसर मिला कि– आचार्यजीके जीवनमें ढोंग व पाखण्डके लिये स्थान न था। चाहे कोई छोटा हो या बडा, अमीर हो या गरीब प्रत्येककी बात ध्यानसे सुनते थे, सबके लिये प्रेम था, हृदय मन्दिरसे घृणा कोसों दूर थी।

नियमपालन

आश्रममें पांच वर्ष रह कर यह देखनेमें आया, आचार्यजी स्वनियम पालनेमें बहुत सतर्क रहते थे। रातको ठीक समय पर सोयें या देरसे परन्तु प्रातः निश्चित समय पर शय्या त्याग देते थे। नित्यप्रति दोनों समय ध्यान करते थे, स्वकर्तव्य निभानेमें बहुत सावधानता बर्तते थे। जीवनमें आलस्य के लिये स्थान भी न था। साधारणसे साधारण नियमको भी पूर्णरूपेण पालते थे।

स्वावलम्बन

आचार्यजीके जीवनमें स्वावलम्बीपनेका बहुत अधिक भाव था। स्वस्थ अवस्थामें तो क्या रुग्ण दशामें भी किसीके ऊपर भार स्वरूप नहीं होते थे, अपने प्रत्येक कार्यको स्वयं करते थे। खेतमें जाकर विद्यार्थियोंके साथ खुरपादि भी चलाते थे। प्रातःकाल विद्यार्थी इस प्रतीक्षामें रहते थे कि आचार्यजी आयेंगे और नल चलाकर उनको स्नान करायेंगे, परन्तु कभी कभी तो विद्यार्थियोंको प्रतीक्षा ही बनी रह जाती और आचार्यजी स्वयं स्नान करके चले जाते। कई बार पाठ पढाते उठ जाते और रसोईसे गिलास लेकर स्वयं नल पर जल पीनेके लिये चले जाते, परन्तु किसी विद्यार्थीको न कहते। सारे विद्यार्थी देखते ही रह जाते कि आचार्यजी कहां गए हैं।

सेवाभाव

जब कोई सज्जन आश्रममें पधारते, आचार्यजी प्रत्येककी परिचर्याका पूर्ण ध्यान रखते थे। जबतक आगन्तुक महानुभावका पूर्ण प्रबन्ध न हो, तबतक स्वयं भोजन विश्रामादि न करते थे। आश्रमके शिविरके दिनोंमें विशेष रूपसे प्रत्येक स्थान पर जाकर प्रत्येककी सुविधा एवं परिचर्याका पूर्ण ध्यान रखते थे। यहींतक ही नहीं– अपितु प्राणिमात्रकी सेवाके लिये सर्वदा उद्यत रहते थे। वैसे तो आश्रममें रहते हुये प्रत्येक कार्यका ध्यान रखते थे। गौओंसे बहुत प्रेम करते थे। दिनमें कई बार गोशालामें जाकर अपने सामने चारादि डलवाते थे और कभी कभी स्वयं भी डालते थे। इस प्रकार चारा, जल आदिसे नित्य प्रति गौओंकी सेवा करते थे।

शिष्यानुराग

आचार्यजी प्रत्येक शिष्यसे बहुत प्रेम करते थे, और प्रत्येक विद्यार्थीका हर प्रकारसे बहुत ध्यान रखते थे। महर्षिजीके जीवनको पढनेसे ज्ञात होता है कि सेवकके रुग्ण होने पर ऋषिवरने स्वयं सेवा की थी। श्रद्धेय श्रद्धानन्दजीने गुरुकुल कांगडीमें स्वशिष्यकी कै अपने हाथों पर ली थी, इसी प्रकार आचार्यजीने भी कई बार रुग्ण विद्यार्थियोंकी सेवा की। दुर्भाग्य कहिये या सौभाग्य–एक बार ग्रीष्म ऋतुमें मैं सहारनपुर जिलेसे विद्यालयके लिये घीका कनस्तर लाया, दोपहरके समय चलनेके कारण कुछ गर्मी हो गई। आश्रममें आकर तीन चार दिन खेतों पर जाकर खरबूजे मोल ले कर खाये परन्तु उनके ऊपरसे शर्बतको सेवन नहीं किया, और इसके साथ खूब 'खजूरें खाई। 'पहले तो करेला कडवा फिर नीम चढा' की लोकोक्तिके अनुसार गर्मीने प्रभाव दिखाया। मैं गर्मीसे व्याकुल होकर विद्यालयके बरामदेमें लेटा हुआ था। मेरे माथेके ऊपर किसीने जलकी पट्टी रखी, ठण्डकके कारण जब मैंने आंख खोलकर देखा तो आश्चर्य में रह गया कि आचार्यजी सिरके पास खडे हुये मेरे माथे पर जलकी पट्टियोंसे उपचार कर रहे हैं। मुझे २८ दिन तक टाइफाइड रहा, आचार्यजी मेरे कमरेमें दिन रातमें कई बार आते और पासमें बहुत देरतक खडे रहते, अपनेसे भी अधिक मेरी चिन्ता करते थे। इस प्रकार प्रत्येक छात्रतककी भी सेवाके लिये सदा सतर्क रहते थे। जब कभी प्रचारमें कोई सज्जन व्यक्तिगत व्ययके लिये आचार्यजीको कुछ राशि देता, तो उसको भी आप यथायोग्य रूपमें विद्यार्थियोंको घृतादिके लिये दे देते थे। विद्यार्थियोंसे पृथक् विशेष भोजन आग्रह करनेपर भी कभी आप सेवन नहीं करते थे।

हिन्दी सत्याग्रहमें मैं फिरोजपुर जेलमें था, सर्दीके आने पर आचार्यजीने अपनी जरसी मेरे लिये भेज दी और कहा– अभी टाइफाइडसे उठा है, कहीं सर्दी न लग जाये, जब कि उन दिनों रक्तचापका रोग बढा हुआ, था और कोई गर्मवस्त्र आचार्यजीके पास नहीं था। इस प्रकार प्रत्येक प्रकारसे विद्यार्थियोंकी हरएक आवश्यकताका ध्यान रखते थे।

मितव्ययी, एवं प्रशंसा व आडम्बरसे दूर

जब हिन्दी सत्याग्रहके लिये सद्भावना यात्रा आरम्भ हुई, उस समय सर्वप्रथम यमुनानगरमें सद्भावनाके जत्थेको बिदाई दी गई। बिदाईसे दो दिन पूर्व यमुनानगरमें प्रभात फेरी हुई, उसके प्रभावको देखकर विद्यार्थियोंने आचार्यजी से कहा– कमसे कम दस विद्यार्थियोंको आप जत्थेके साथ चलनेकी आज्ञा दे दें। इससे प्रत्येक नगरमें जत्थेके जलूसकी शोभा बढेगी और सत्याग्रहके लिये जागृति उत्पन्न होगी। आचार्यजीने अनुशासन एवं धन व्ययका ध्यान रखते हुये इन्कार कर दिया और प्रशंसा व आडम्बरको पास न फटकने दिया।

आर्य समाजका प्रेम

हिन्दी सत्याग्रहके स्थगित होनेके दो तीन दिनके पश्चात् स्वर्गीय स्वा. सत्यानन्दजी महाराज आश्रममें पधारे। आचा-

वैजीसे कुछ वार्तालाप करके एक घण्टेके पश्चात् आश्रमसे लौट गये। रातके समय आचार्यजीके पास बैठे हुये थे, श्री गणेशचन्द्रजी जिन्होंने स्वामीजीके रुग्ण होनेपर कई वर्ष तक सेवा की और मैंने जैसे कि आजकल प्रायः निराशामयी प्रवृत्ति है– हमने कहा आर्य समाजमें क्या है? विद्वानोंका समुचित आदर नहीं, बड़े बड़े व्यक्ति इसे छोड़ कर चले गए हैं। आचार्यजी लेटे हुए थे, इतना सुनते ही एक दम उठ कर बैठ गए, मुखमंडल ओजपूर्ण हो गया, उस समय आपने जो उत्तर दिया–उससे बड़ी सरलतासे अनुभव किया जा सकता था कि इस वृद्ध अवस्थामें भी आपके हृदयमें जो आर्य समाजके लिये तड़प और प्रेम है वह अन्यत्र मिलनी आज दुर्लभ है।

मेरठ

आचार्यजीके एक पुराने शिष्य आजकल मेरठमें रहते हैं, उनके परिवारने आचार्यजीकी बहुत सेवा की है, जो कि आर्य जगत्के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। वैसे तो इससे पूर्व देहली रूपनगरमें श्री बालमुकुन्द आहूजाके निवास पर भी कई कई मास रह आचार्यजीने रक्तचापका उपचार करवाया था। श्री इन्द्रराजजीके बारम्बार प्रार्थना करने पर सम्भवतः आचार्यजी १९५९ अक्टूबर मासके अंतिम दिनोंमें चिकित्सार्थ मेरठ पधारे। पहले एक मास होम्योपैथिक इलाज हुआ, तदनन्तर मेरठके एक अति प्रसिद्ध सुयोग्य अनुभवी डाक्टरजीने एलोपैथिक इलाज आरम्भ किया, इन दिनों दो मास सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्यजी जब कभी दूसरोंके गृह पर ठहरते थे, तो दूसरोंकी सुविधाओंका विशेष ध्यान रखते थे।

चरित्र धनके धनी

मेरठमें आचार्यजीके सम्बन्धमें एक सज्जनने एक घटना सुनाई कि विभाजनसे पूर्वकी बात है– आचार्यजी एक स्थान पर कथा करने गए हुए थे। आचार्यजी उस समय युवक थे, कथा कई दिन चलती रही, कथा की जिस दिन समाप्ति हुई, उस दिन पूर्णाहुतिके पश्चात् जब सब चले गए तब आचार्यजीके पास एक नवयुवती आई और कहने लगी मैं तो आपके साथ जाऊंगी। आचार्यजीने अपने आजीवन ब्रह्मचर्य निष्ठा को निभाते हुए स्पष्ट शब्दोंमें इन्कार कर दिया, उसने कई बार आग्रह किया जब आचार्यजी नहीं माने तो चाकूका वार करके भाग गई। आचार्यजी ब्रह्मचर्यके नियम पालनेमें बहुत सतर्क रहते थे, कभी वृद्धावस्थामें भी लापरवाही नहीं की। एक बार एक विद्यार्थीने आचार्यजीसे पूछा कि आपको ब्रह्मचर्य व्रतके पालनेके लिए अब इस अवस्थामें इतनी अधिक सतर्कताकी क्या आवश्यकता है।? आचार्यजीने कहा– मनुष्यको अपने व्रतके पालनेमें सर्वदा सावधान रहना चाहिए न जाने लापरवाहीसे किस समय गलती हो जाये।

स्मरणशक्ति

मेरठमें रहते हुये गुरुकुल ज्वालापुरसे अधिष्ठाताजीका पत्र आया कि आप स्वा० दर्शनानन्दजीके सम्बन्धमें एक लेख प्रेषित करनेका कष्ट करें, उस समय सम्भवतः गुरुकुलकी स्वर्णजन्ती मनाई जा रही थी। अधिष्ठाताजीके आग्रह पर रुग्णावस्थामें भी आचार्यजीने दार्शनिक, शिरोमणि स्व० दर्शनानन्दजीके कुछ संस्मरण लिखवाये मैं। इस रुग्णवस्थामें भी आचार्यजीकी स्मरणशक्ति और उत्साहको देख कर बहुत आश्चर्यचकित हुआ। लेखकी मार्मिक भाषासे आर्य समाजके प्रति अत्यधिक लगन सजीव रूपेण अनुभव होती थी।

आदर्श शिक्षा

विद्यालयके नियमानुसार विद्या अध्ययनके अनन्तर एक वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाबमें कार्य करना निश्चित है। मेरा अध्ययन पूर्ण हो चुका था और १ जनवरी १९६० से कार्य काल आरम्भ था। सभाके प्रोग्रामके लिए जब मैं मेरठ चलने लगा, मैं आचार्यजीके पास गया और कहा कुछ सन्देश व नियम बतलायें, जिनका प्रचारकालमें पालन किया जाए। नमस्कारके अनन्तर आशीर्वाद देते हुए आचार्यजीने कहा–अपने नित्य नैमित्तिक नियम पालनेमें अत्यन्त जागरूक रहना चाहिए और जीवनकी पवित्रता एवं सदाचारका अत्यधिक ध्यान रखना। उस समय चलते हुये आचार्यजीका जो प्रेम और शिष्य अनुराग देखा वह आजीवन आंखोंसे ओझल नहीं हो सकता।

अलौकिक बुद्धि

न्यायदर्शन पढाते हुए न्यायदर्शनका कुछ पाठ छूटा हुआ सामने आया जिसके कारण पूर्वापरकी संगति नहीं लग रही थी, आचार्यजीने स्वबुद्धिसे उसको पूर्ण किया। एक बार पुस्तकालयमें न्यायदर्शनकी हस्तलिखित प्रतिमें देखनेपर वह पाठ उसी रूपमें दृष्टिगोचर हुआ जिस रूपमें

आपने पूर्ण किया था। आचार्यजीकी विद्वत्ता एवं दार्शनिकताका कुछ अनुमान ' मनोविज्ञान और शिवसंकल्प ' तथा ' सन्ध्याअष्टांग योग ' आदि ग्रन्थोंके अध्ययनसे अनुभव किया जा सकता है। जहां आप विद्याधनके धनी थे, वहां आपकी बुद्धि वास्तुपत्य कलामें भी प्रवीण थी। वैदिक साधानाश्रम यमुनानगरकी यज्ञ-शालाका नक्शा आपने ही बनाया था। जिसके छः दरवाजे हैं तथा यज्ञशालासे संलग्न छः कमरे भी हैं, सारेके सारे द्वार और कमरे एकसे हैं। जिसके कारण बाहरसे पधारनेवाले दर्शकों एवं अतिथियोंके लिये भूल भूलैया खेल हैं। दो तीन दिन तो प्रत्येकके साथ विचित्र तमाशा होता है जिसका अनुभव आश्रममें जाने पर यज्ञशालाको देख कर लगाया जा सकता है।

सत परामर्श

आचार्यजीके पास जब कोई व्यक्ति अपने जीवनकी उलझी हुई समस्याओंके समाधानके लिये श्री चरणोंमें उपस्थित होता था तो सारी स्थितिको सुननेके अनन्तर उसकी स्थितिके अनुसार ही यथायोग्य परामर्श दिया करते थे। मेरठमें आचार्यजीके पास एक व्यक्ति आये वार्तालापमें कहने लगे— स्वामीजी ! मैं प्रतिदिन दो घण्टे ध्यान करता हूँ, पुनरपि मनमें कुछ गृहस्थ सम्बन्धी विचार आते रहते हैं। (उस समय उनकी आयु ३० या ३५ वर्षके लगभग होगी) क्या विवाह करवा लेना चाहिए ? या नहीं। आचार्यजीने कहा ब्रह्मचर्यका मार्ग बहुत उत्तम है परन्तु अपनी स्थिति पर विचार कर लो, कभी कलको कोई गडबड हो जाये और पुनः पश्चात्ताप करना पडे। इसी प्रकार आश्रममें एक नवयुवक आया जिसका विवाह हो चुका था, आचार्यजीसे पूछने लगा मेरी इच्छा है पत्नी छोड दूं और आदर्श जीवन व्यतीत करूं। आचार्यजीने कहा-ऐसा ठीक नहीं, अब आपको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए ही आदर्श जीवन बनाओ।

प्रेम व्यवहार

आप जब गुरुकुल रावलादिमें रहते थे, तो उन दिनों चिकित्सा भी किया करते थे। अयुर्वेदमें आप सिद्धहस्त थे, आश्रममें भी आपने यदा कदा कई औषधियोंका निर्माण किया, जिनकी सेवन करनेवालोंने बहुत प्रशंसा की। कुछ नुस्खे आचार्यजीने स्वयं बनाए थे। चोहा भक्तांमें एक सनातन धर्म सभाके मन्त्री थे, जो आर्य समाजसे बहुत चिढते थे, फूटी आंखसे भी आर्य समाज न सुहाता था। एक बार उनके परिवारका एक सदस्य बहुत रुग्ण हो गया, आचार्यजीने उसका उपचार आरम्भ किया और वह स्वस्थ हो गया। आचार्यजीने उसको घरमें यज्ञ करानेकी प्रेरणा की, कई बार प्रेरणा करने पर उसने घरमें यज्ञ करवाया। धीरे धीरे आचार्यजीके प्रेमसे प्रभावित हो कर विचारोंमें परिवर्तन आया और अन्तमें पूर्णरूपेण आर्य समाजका प्रेमी बन गया। आचार्यजी अपने पराए, अमीर व गरीबके भेदोंको दूर रख मानव मात्रसे प्रेमका व्यवहार करते थे। आदरणीय पाठकवृन्द ! आइये इस पर कुछ विचार करें और स्वजीवनके निर्माणार्थ आचार्य प्रवरकी जीवन ज्योतिसे अपने जीवनको जीवन बनायें।

— प्रेषक- श्री ब्र. रजनीकान्त दु. शाह

प्रज्ञा-दर्शन

(लेखक— श्री डॉ. वासुदेवशरण, काशी विश्वविद्यालय)

[गताङ्कसे आगे]

फिर विदुरने हंस-साध्य-संवादके रूपमें एक बहुत ही उदात्त प्रवचन धृतराष्ट्रके सामने रक्खा। यह चरणयुगके नीति विषयक साहित्यका जगमगाता हुआ माणिक्य है। इसका जो अंश यहां है लगभग उन्हीं शब्दोंमें वह शांतिपर्वमें आया है (शान्ति– २८८।१–४४)। वहां इसे गीता कहा है। स्वयं अव्ययपुरुष प्रजापतिकी कल्पना सौ वर्ण हंसके रूपमें की गई है। उसे ही अन्यत्र हिरण्यपक्ष शकुनि कहा है। विश्व प्रतिष्ठ प्रजापतिका सर्वत्रगामी रूप है जो सबके हृदयमें विद्यमान है और ध्यान करनेसे सभी उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं। सत्य, क्षमा, दम, शम, धृति, प्रज्ञा, तप इनके द्वारा ही हृदयकी ग्रन्थिका विमोक्ष संभव है। प्रज्ञादर्शनमें जो प्राज्ञका उच्चस्थान था वह कोई नई कल्पना न थी, बल्कि प्राज्ञको ही वैदिक युगमें धीर कहते थे। उपनिषद् युगमें श्रुतज्ञान प्राप्त करके जो उसे कर्ममें उतारते थे उन्हें ही "कर्माणिधिपः' इस परिभाषाके आधारपर धीर कहा जाता था। यह मूल्यवान शब्द उपनिषद् साहित्यमें बार–बार आता है।

यहां भी महर्षि हंसको "श्रुतेव धीरः" कहा गया है। उन महर्षियोंकी यह काव्यमयी उदार वाणी थी। वे धर्ममें मस्त अपने भीतर ही देखते थे, बाहर अन्य व्यक्तियोंके दोषो पर दृष्टि न करते थे। इस संवादका निचोड वाणीका संयम है। मनुष्यको उचित है कि घोर रूखी मर्मच्छिद वाणी कभी न कहे। वह मुखमें साक्षात् डायन (निर्ऋति) का निवास है। वाक् कंटकोंसे बढकर लक्ष्मीनाशक और कुछ नहीं। बोलनेसे न बोलना अच्छा है, यह पहला पक्ष है। उससे सत्य वचन अच्छा है, यह दूसरा पक्ष है। सत्य कथनमें भी प्रिय कथन, तीसरा विकल्प है और उसमें भी धर्मा-नुकूल वचन अन्तिम है। सत्यवादी, मृदुदान्त उत्तम पुरुष सबका अस्तिभाव चाहता है, किसीका नास्तिभाव नहीं।

इतना सुनकर धृतराष्ट्रने महाकुलोंके वृत्ति और आचारोंके विषयमें प्रश्न किया। प्रज्ञादर्शन सामाजिक गृहस्थधर्मका समर्थक था। समाजकी इकाई कुल है। अतएव व्यक्तियोंके उच्च आचार-विचारका प्रत्यक्ष फल कुलोंकी श्रेष्ठताके रूपमें समाजको मिलता है। व्यक्ति चले जाते हैं, पर कुल-प्रतिष्ठा पीढी दर पीढी बनी रहती है, अतएव महाकुल कैसे बनाए जाएं– यह प्रश्न प्रज्ञादर्शनमें महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह प्रकरण मनुस्मृति (३।६३–३७) में भी आया है। प्राचीन भारतवासी कुलकी प्रतिष्ठा पर बहुत ध्यान देते थे। ऋषियोंकी दृष्टिमें सामाजिक उच्चताका आधार धन नहीं, तपश्चर्या, ब्रह्मविद्या, इन्द्रिय निग्रह आदि सांस्कृतिक गुण ही थे जिनसे कुलोंकी प्रतिष्ठा बढती थी। जिन कुलोंमें सदाचारका पालन होता है वे अल्पधन होनेपर भी महाकुलोंमें गिने जाते हैं। (कुल संख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः। उद्योग ३५।३६) यहां कुल संख्यासे तात्पर्य महाप्रवर कांड या उन गोत्र सूचियोंसे है जो बौधायन, आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रोंमें पाई जाती है। उनमें उस समयके यशस्वी कुलोंके नाम संग्रहीत हैं। जो महाकुलीन है वे ही समाजके भारी दायित्वको सम्भालते हैं, जैसे सेदनके वृक्ष (सं स्पन्दन) की छोटी लकडी भी रथमें लगी हुई भारी बोझेको सह लेती है। इसी प्रसंगमें एक विलक्षण वाक्य आया है जिसकी तुलनामें रखनेके लिए शतसाहस्री संहितामें हमें संभवतः और कुछ कठिनाईसे मिलेगा। उस समय यह प्रथा थी कि प्रत्येक कुल या परिवारकी ओरसे एक प्रतिनिधि जन समितिमें सम्मिलित होता था। उसे कुल वृद्ध स्थावर या गोत्र कहते थे। कुलकी इकाई ही पौरजनपद संस्थाओंका आधार थी। यहां कहा गया है—

न नः स समितिंगच्छेद् यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्।
(उद्योग ३६।३१)

अर्थात् हममेंसे जो कृषिके लिए खेतमें बीज नहीं डालता वह समिति या सभामें बैठनेका अधिकारी नहीं। विदुरने अच्छे मित्रोंके सम्बन्धमें भी कुछ अच्छी बाते कहीं हैं। जिस मित्रमें पिताके समान आश्वस्त हुआ जा सके वही मित्र है और सब

तो सिर्फ जान पहचानी हैं। ज्ञात होता है धृतराष्ट्र ऊपरी मनसे यह सब सुन रहे थे। भीतर उन्हें यही चिन्ता थी कि युधिष्ठिर युद्धमें मेरे पुत्रोंका अंत न कर दें। उन्होंने पूछा है, 'विदुर! मुझे यही बडी घबराहट है इससे कैसे बचूं।' विदुरने कहा- विद्या और तपके बिना, इन्द्रियनिग्रहके बिना और लोभका त्याग किये बिना शान्तिका उपाय मुझे दिखाई नहीं देता। अन्तिम नुस्खा धृतराष्ट्रके लिए ही था। जिसके भीतर कुछ, बाहर कुछ है उसे न नींद आती है और न अन्न भाता है। न वह धर्म कर पाता है, न सुख पाता है। ऐसे दुनियांमें पडे हुए व्यक्तिके लिए नाशके सिवा और कुछ गति नहीं।

अलग-अलग पडे हुए भाई-बन्धु धुंध आते रहते हैं। वे ही यदि मिल जाय तो प्रचंड अग्निका रूप धारण कर लेते हैं। तानेके फैले हुए सूतोंमें जब बानेके बहुतसे सूत बुन जाते हैं तो उनसे मजबूत वस्त्र बन जाता है। यही भाई-बन्धुओंके मेलका हाल है। पहले तुमने मेरी बात नहीं मानी, पर अब भी तुम पाण्डवोंकी रक्षा करो तो सब ठीक हो जायेगा। कौरव पाण्डवोंका और पाण्डव तुम्हारे पुत्रोंका पालन करें। समस्त कौरवोंके शत्रु मित्र समान हों। उनका मन्त्र समान हों। वे सुखी समृद्ध होकर जीयें। तुम कौरवोंके बीचकी थूनी हो, सारा कुरुकुल तुम्हारे अधीन है। तुम्ही कौरवों और पाण्डुपुत्रोंमें संधि करा सकते हो। वे सत्यमें स्थित हैं। तुम दुर्योधनको सत्य पर ठहराओ।

फिर विदुरने स्वायम्भुव मनुका प्रमाण देते हुए सत्रह तरहके मँकुओंकी सूची दी है। जो अक्लका दुश्मन हो वही मकुआ है। वह मानों मुट्ठीसे आकाश कूटता है, हाथमें फन्दा लेकर हवाको बांधना चाहता है। या आकाशके इन्द्र धनुषको झुकाना चाहता है, या सूर्यके कीरणोंको मोडकर लपेटना चाहता है। जो अशिष्यको सिखाता है, जो क्रोध करता है, जो बलहीन होकर बलवान्से सदा वैर साधता है, जो स्त्रियोंकी रक्षा नहीं करता, जो दूसरेके क्षेत्रमें बीज बोता है, जो उधार लेकर कह देता है कि याद नहीं पडता, जो देकर डींग हाँकता है, जो ससुर होकर पतोहूके साथ हंसी करता है, जो स्त्रीके मुंह लगता है, जो श्रद्धाहीनके सामने ज्ञान बघारता है ऐसे व्यक्ति पहले सिरेके मूर्ख हैं। यह सूची लोकके व्यवहारोंको छानकर तैयार की गई थी और प्रज्ञादर्शनमें जरूरी थी।

धृतराष्ट्रने बातको मोडते हुए शतायु बननेकी युक्ति पूछी। विदुरने मन और शरीर दोनों दृष्टियोंसे इसका उत्तर देते हुए कहा- 'अतिवाद, अतिमान, मित्रद्रोह, क्रोध, अत्याग और हदसे ज्यादा ज्ञानलिप्सा- ये छः बातें आयु कम करती हैं। इनसे आयु छिन्न होती है, मृत्युसे नहीं। परिमित भोगी आरोग्य और आयु एवं सुख और बल प्राप्त करता है, इत्यादि कई प्रकारसे विदुरने प्रश्नका समाधान किया और अंतमें सब बलोंके ऊपर प्रज्ञा बलकी प्रसंशा की। बाहुबल, अमात्यबल, धनबल, अभिजातबल एवं प्रज्ञाबल इन पांचोंमें प्रज्ञासे जो कार्य सिद्ध होता है वह अन्य किसी बलसे नहीं। प्रज्ञाके बाणसे यदि शत्रुको छेद किया जाय तो न उसके वैद्य मिलते हैं, न औषधि।'

तब विदुरने कुछ सामान्य शिष्टाचारोंकी व्याख्या की जो मानवमात्रके द्वारा पालन करनेके योग्य हैं- 'मनुष्यको उचित है कि अभिवादन रूपी शिष्टाचारका मनुष्य मात्रके साथ ठीक-ठीक पालन करे। जब कोई वृद्ध व्यक्ति किसी युवकके पास मिलने आता है तो युवकके प्राणोंका संतुलन क्षुब्ध हो उठता है। अपने केन्द्रको फिर स्थिर शान्त बनानेके लिए उसे चाहिए कि उठकर वृद्ध व्यक्तिका स्वागत करे और अभिवादन करे। मनुष्यको यह भी उचित है कि शिष्टाचारके विषयमें वह स्वयं पहल करे। अपनेको कभी दूसरेसे पिछडने न दे। अभ्यागतको पहले आसन देना चाहिए। जल्दसे फिर पादप्रक्षालनके लिए जल देना चाहिए। पुनः कुशल प्रश्न पूछकर जो अपने पास सुलभ हो उसे सरल हृदयसे निवेदन करके अन्नादिसे सत्कार करना चाहिए। जिसके यहां विद्वानको पाद्य, अर्घ, मधुपके न मिले उस व्यक्तिके जीवनको आर्यपद्धतिमें जीवित रहना नहीं माना जाता।'

इसी प्रसंगमें सच्चे भिक्षु और पुण्यात्मा तपस्वीका लक्षण बताया गया है। युधिष्ठिरके यहां ऐसे लोगोंका आना सौभाग्य माना जाता था। विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, वयोवृद्ध, बुद्धिवृद्ध, धनवृद्ध और अभिजनवृद्ध इन छः प्रकारके लोगोंको उचित सम्मान मिलना ही चाहिए। कोई मूढ ही इनका अपमान करेगा। इसी प्रकरणमें यह बताया गया है कि राजाको कैसे एकान्त स्थानमें किनके साथ मंत्र विचार करना उचित है। धर्म, काम और अर्थ संबंधी कामोंमें जो करना हो उसे कहकर नहीं, करके ही जताना चाहिए। जो सुहृद्

न हो या सुहृद् होने पर भी प्रज्ञावान् (पंडित) न हो, या पंडित होनेपर भी आत्मसंयमी न हो ऐसे व्यक्तिको अपना मंत्र बतानेसे कुछ लाभ नहीं।

पहले कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र दिष्टवादी या भाग्य-वादी दर्शनके माननेवाले थे। आचार्य मंखलि गौशालने नियतिवादका विशेष प्रतिपादन किया था। यहां भी धृतराष्ट्र-ने कुछ ऐसा ही मत व्यक्त किया। किसी बातके होने या न होनेमें (भावाभाव) मनुष्यका हाथ नहीं, सब भाग्यके वशमें है। ब्रह्मा सूतमें बंधी कठपुतलीकी भांति सबको नचा रहे हैं।

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारु-
मयीवयोषा। धातामुदिष्टस्य वशे किलापं
तस्मात् वदत्वं श्रवणे धृतोऽहम्॥ (उद्योग ३६।१)

इस विदुर नीतिको सामान्य नीतिग्रन्थ नहीं समझना चाहिए। यह एक पूरा दार्शनिक अभिमत था। इसे प्रज्ञा-वाद या प्रज्ञाका दर्शन कहा जा सकता है। यह प्रज्ञावाद उन अनेक मतवादोंकी काट था जो भाग्य, निर्वेद, कर्मत्याग पर आश्रित समाज विरोधी आदर्शोंका प्रतिपादन करते थे। प्रज्ञावाद, पुरुषार्थ, सत्कर्म, धर्म, गृहस्थ, प्रज्ञापालन आदि आदर्शोंपर आश्रित था, जिनसे जीवनका संवर्धन होता है, निराकरण नहीं। यदि इस दृष्टिसे विदुरनीति या प्रजागर पर्वका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो आदिसे अन्ततक प्रज्ञावादके सैंकडों सिद्धान्तोंका प्रतिपादन इसमें मिलेगा। प्रज्ञावादका इतना सुन्दर समन्वित विवेचन अन्यत्र कहीं भी भारतीय साहित्यमें नहीं मिलता। प्राचीन भारतमें प्रज्ञा-वाद एक प्रौढ दर्शनके रूपमें प्रचलित जान पडता है। इसकी बहुतसी चूले अन्य दार्शनिक मतोंके साथ विशेषतः बौद्ध-मतके साथ भी मिली हुई थीं। बुद्ध स्वयं प्रज्ञावादी थे, किन्तु उनकी सारी विचारधाराने श्रवण-धर्मको आगे बढाया। गृहस्थधर्मको उसके सामने झुकना पडा। पर प्रज्ञावाद प्राचीन वैदिक परम्पराओंको लिए हुआ था जिसमें व्यक्तिकी महिमा, गृहस्थाश्रमकी महिमा, पुरुषार्थ और उत्थानकी महिमाका प्रतिपादन किया गया है। प्रज्ञावाद अभावात्मक नहीं, जीवनका भावात्मक दृष्टिकोण था—

भावमिच्छन्ति सर्वस्य ना भावे कुरुते मतिम्।
(उद्योग. ३६।१६)

प्रज्ञावाद दर्शनकी सबसे करारी टक्कर भाग्यवाद या नियतिवाद दर्शनसे थी। इसे दिष्टवाद कहते थे। पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें इस दर्शनके माननेवालोंको दैष्टिक कहा गया (४।४।६०)। दार्शनिक मत या दृष्टिकोणको दिट्ठि कहा जाता था। उस युगकी अनेक दिट्ठियों या मतोंका उल्लेख बौद्ध और जैन साहित्यमें आया है। संस्कृत परम्परामें वह सामग्री अबतक उपलब्ध न थी। अब तुलनात्मक दृष्टिसे महाभारतके सैंकडो अध्यायोंमें उसे पहचान कर अलग किया जा सकता है। कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद योनिवाद आदि दिट्ठि या मतोंके संबंधमें मूल्यवान सामग्रीका बडा भंडार शान्तिपर्वके अन्त-र्गत मोक्षधर्मपर्वमें एकत्र बच गया है और कुछ सामग्री दूसरे पर्वोंमें भी बिखरी हुई है। इस विषयमें स्पष्ट तुलना-त्मक विवेचन शांतिपर्वकी व्याख्यामें करना उचित होगा। यहां इतना जान लेना चाहिए कि प्रज्ञावादके अन्तर्गत जो दृष्टिकोण पाया जाता है उसका प्रतिपक्षी दृष्टिकोण नियति-वाद था। नियतवादके सिद्धान्तोंके साथ तुलना करके देखने पर ही विदुरके प्रज्ञादर्शनका पूरा महत्त्व, अर्थ एवं संगति स्पष्ट हो सकेगी।

दिष्टवाद या भाग्यवादके संस्थापक आचार्य मंखलि गोशाल थे। शान्तिपर्वमें मंकि ऋषिके नामसे इनकी कहानी आई है और वहीं उनके मतके पांच सिद्धान्त बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं– १ सर्व साम्य– सबको समान समझना, २– अनायास (हाथ पैर न हिलाना, परिश्रम न करना), ३ सत्यवाक्, ४ निर्वेद (कर्मके प्रति नितांत उपेक्षा), ५ अविवित्सा (किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा न करना, तृष्णा त्याग यहांतक कि आत्मा आदिके विषयमें भी बौद्धिक प्रयत्न या उहापोहका परित्याग)।

सर्वं साम्यमनायासः सत्यवाक्यञ्च भारत
निर्वेदश्चाविवित्सा च यस्य स्यात् स सुखीनरः॥
एतान्येव यदन्याहु पंच वृद्धाः प्रशान्तये।
(शान्ति १७७।२-३)

कर्म मत करो, शान्ति ही श्रेयस्कर है– यह मस्करी परि-व्राजकोंका दृष्टिकोण था जैसा कि पतंजलिने लिखा है (मा कर्म कार्षीः शान्तिर्वः श्रेयसी)। निर्वेद, निर्वृत्ति, तृप्ति, शान्ति ये दिष्टवादके अंग थे। भाग्यके माननेवाले सत्य, दम,

क्षमा और सर्व भूतदयाको भी मानते थे पर उनके मतवादका सबसे बडा तमंचा भाग्य या दैवमें अटल विश्वास था।

(शान्ति १७१।१३, ४५)

प्रज्ञावादके निरूपणमें विदुरने इन मतोंका बहुत ही कुशलतासे खंडन करते हुए अपने कर्मपरायणताका प्रतिपादन किया है। नियतिवाद भूत, भविष्य और वर्तमानके हरएक पलको और जीवनके हरएक कर्मको बिल्कुल बंधा हुआ मानता है, उसमें मनुष्यको बुद्धिपूर्वक कर्मकी गुन्जाइश नहीं रहती। नियतिमें प्रज्ञा या बुद्धिसे कुछ प्रयोजन नहीं अतएव नियतिवादका उल्टा दर्शन अयतिवाद कहलाता था। उसके अनुसार बुद्धिपूर्वक कर्मसे भविष्यको सुधारा जा सकता है। विदुर अयतिवाद और प्रज्ञावादके समर्थक थे, जैसा धृतराष्ट्रने कहा है—

सर्वं त्वमायति युक्तं भावसे प्राज्ञ सम्भतम्।
न चोत्सहे सुतं व त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः॥

नियतिवादके अनुसार विधाताने जैसा भविष्य लिख दिया है वैसा होकर रहेगा। प्रज्ञावादके अनुसार पराक्रमसे अनर्थको टाला जा सकता है और बुद्धिसे भविष्यका प्रतिकार किया जा सकता है (६।३२,४१)। भाग्यवादी कहते थे कि हाथ पैर हिलानेसे कुछ लाभ नहीं, आयास या यत्न व्यर्थ है। इसके उत्तरमें प्रज्ञावाद उत्थान, समारम्भ एवं पराक्रमका दृष्टिकोण रखता है (३६।५४,३२) विदुरके अनुसार इन्द्रियोंका कर्म छोड बैठना ऐसा ही है जैसा मृत्यु हो जाना (३६।३८)। उत्साह ही जीवन है। जिन्होंने उत्साह छोड दिया उन्होंने मानो लक्ष्मी और श्रीसे विदा ले ली। नियतिवाद निर्वेद या वैराग्यपर जोर देता है किन्तु प्रज्ञावादके अनुसार अनिर्वेद या उत्साह परायण काम ही सुखकी प्राप्ति, दुःखके नाश और श्रीका मूल है।

जिसका मन नहीं बुझा, वही जीवनमें महान् बन सकता है (३६।४४)। नियतिवादी भी क्षमाका उपदेश करते थे किन्तु प्रज्ञावादके अनुसार जो प्रभविष्णु या समर्थवान् है उसीकी क्षमा सच्ची क्षमा है, जो असक्त है उसके पास तो क्षमाके सिवा और कुछ है ही नहीं। जो अर्थ और अनर्थ दोनोंको एक महान समझ बैठा हो वही नित्य क्षमाका आश्रय लेता है। नियतिवादमें सर्व साम्य या सबको बराबर समझा जाता था किन्तु प्रज्ञावाद छोटे और बडे, विद्वान् और मूर्खमें उचित भेद करता है। इसके अनुसार छोटोंको बडोंका स्वागत, सत्कार, अभिवादन करना आवश्यक है (३८।१, ३९-६०)।

सर्वसाम्यका यह भी अर्थ था कि व्यक्तिको निंदा और प्रशंसामें शोक या हर्ष नहीं मानना चाहिए। इसका समर्थन प्रज्ञावादी विदुरने भी किया है (३६।१५)। इन वादोंके अनेक सिद्धान्त प्रज्ञावादो बुद्धके दर्शनमें भी जा मिले हैं। धम्मपदके अनेक स्थलोंकी तुलना प्रज्ञावाद या नियतिवादियोंके दृष्टिकोणसे की जा सकती है। धम्मपदमें पंडितोंको निन्दा या प्रशंसासे अलग रहनेका उपदेश दिया गया है (धम्म. ८१)। यह विदुरके "निन्दा प्रशंसासु समस्वभावः" से मिलता है।

नियतवादमें सत्यवाक्का उपदेश दिया गया है। प्रज्ञावाद उसकी व्यवस्थाको आगे बढाते हुए वाक्यके चार रूप मानता है। तूष्णी या मौन भाव सबसे अच्छा। बोलना ही पडे तो सत्य कहना, सत्य भी जो प्रिय हो और प्रिय भी ऐसा जो धर्मयुक्त हो। विदुरके प्रज्ञावादमें रूक्ष या कटीली वाणी की बहुत निन्दा की गई है। जो मर्म हड्डी, हृदय और प्राणोंको छेद दे ऐसी घोर वाणी मनुष्यको जलाकर राख कर देती है। प्रज्ञावादमें उसके लिए कोई स्थान नहीं। हृदयस्थप्रज्ञा देवी ही तो वाग्देवीके रूपमें प्रकट होती हैं। प्रज्ञावादमें जैसे श्रीका महत्त्व माना गया है, वैसे ही वाक् या सरस्वतीका भी। महाप्राज्ञ महर्षि हंस और साध्योंके सम्वादमें सर्वप्रथम धर्ममयी और काव्यमयी उदार वाणी पर ही बहुत बल दिया गया है। जो प्रज्ञामयी वाणी है उसे ही काव्यमयी कहा जाता है। प्रज्ञावादमें सबसे अधिक गौरव आर्जव या हृदयकी शुद्धि और सरलताको दिया गया है। विदुर धृतराष्ट्रको बार-बार आर्जवका महत्त्व समझाते हैं।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे एते सने स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥

यद्यपि नियतवादी आचार्य मंखलि गोशालने भी सर्व-भूतदयाका उपदेश दिया है (शान्ति १७१।४५) पर नियतिवादके अनुयायी धृतराष्ट्रके लिए कौरव-पाण्डव दोनोंमें ऋजुता और मिताकी नीतिसे व्यवहार करना संभव नहीं हो रहा था। उस संघर्षमें आर्जवका प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए था इसीको बतानेके लिए विदुरने विरोचन और

सुधन्वाका वह दृष्टान्त सुनाया था। माया, छल, जिह्मता या टेढ़ापन इनके लिए प्रज्ञावादमें कोई स्थान नहीं।

ज्ञात होता है कि नियतिवादके साथ ही योनिवादका भी कुछ समझौता था। योनिवादके अनुसार जन्म ही पुरुषके पदका निर्णय करता है कुल या आचार नहीं। प्रज्ञावादी दार्शनिक इन दोनोंके समन्वयमें विश्वास करते थे। अर्थात् कुल भी प्रधान है और आचार भी महत्वपूर्ण है, सदाचारसे ही कुलोंको महिमायुक्त बनाया जाता है। अतएव इसी प्रसंगमें प्रज्ञावाद दर्शनके अन्तर्गत महाकुलोंकी विशेषताओंका वर्णन किया गया है। नियतिवादकी दृष्टिसे व्यक्तिके गुणोंका कुछ मूल्य नहीं है। क्योंकि उत्कर्ष और अपकर्षका निर्णय भाग्य ही कर देता है। इसके विपरीत प्रज्ञावाद गुणोंका समर्थक है। व्यक्ति अपनी बुद्धिसे और पुरुषार्थसे गुणोंका उपार्जन कर सकता है एवं उनसे धर्म, अर्थ, कामकी उपलब्धि कर सकता है। विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह, त्याग, स्वाध्याय, शान्ति, दान धृति, सत्य, सम आदि सद्गुणोंसे व्यक्तिका उत्थान सम्भव है, इसमें भाग्य बाधक नहीं। कोई धनसे बड़े और कोई गुणसे बड़े होते हैं। धनवृद्धकी अपेक्षा गुणवृद्ध श्रेष्ठ है। ज्ञात होता है कि भाग्यवादी धनके उत्कर्षको बड़प्पनका हेतु मानते थे और प्रज्ञावादी गुणोंको।

भाग्यवादमें धर्मके लिए स्थान नहीं किन्तु प्रज्ञावादकी मूल भित्ति धर्म ही माना जाता था—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख-दुःखे त्वनित्ये
नित्यो जीवो धातुरस्यत्वनित्यः॥
(उद्योग ४०।११-१२)

अर्थात् कामसे, भयसे, लोभसे या प्राणोंके भयसे भी धर्मको न छोड़ना चाहिए क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य है। जीव नित्य है और शरीर अनित्य है। अनित्यको छोड़कर नित्यका आश्रय लेना चाहिए। यह उत्तम श्लोक ही महाभारतके दृष्टिकोणकी कुञ्जी है। इसे सम्पूर्ण महाभारतके अन्तमें पुनः दोहराते हुए भारत सावित्री कहा गया है।

नियतिवादका पांचवां सिद्धान्त अविविस्सा अर्थात् वस्तुओंको प्राप्त करनेकी इच्छाका निराकरण था। इसके विपरीत प्रज्ञावाद विविस्साका समर्थन करता है, अर्थात् मनुष्यको व्यवहारिक जीवनमें घर-गृहस्थी, खान-पान, वस्त्र शयनासन, भूमि, राज्यशासन आदि सबमें रुचि लेनी चाहिए। जो कुछ भाग्यने दे दिया नियतिवादी उससे सन्तोष मान लेते हैं किन्तु पुरुषार्थवादी या प्रज्ञावादी कुटुम्ब, खेत, भूमि, घर, रहन-सहन, भोजन, वस्त्र सबको अच्छे कुलकी कसोटी समझता है और उनमें सुधार करना चाहता है (३९।३३)।

यदि घरमें दरिद्रताके कारण जीविकाका अभाव हो तो उसे भाग्यपर न टालकर अपनी विनय या जीवनमें प्राप्त शिक्षासे उपलब्ध करना चाहिए (अवृत्ति विनयो हंति हन्त्यनर्थं पराक्रमः। ३९।३३)। कार्यमें अध्यवसाय प्रज्ञाका लक्षण है। कभी ऐसा भी देखनेमें आता है कि बुद्धि होने पर भी धन लाभ नहीं होता और मूढ़के पास रुपये-पैसेकी तरावट देखी जाती है। ऐसी घटनासे प्रज्ञावादीको घबड़ाना नहीं चाहिए। लोकपर्याय धर्मसे ऐसा संभव है किन्तु अन्तमें प्रज्ञाका फल मिलता ही है। भाग्यवादी मूढ़जन, विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, बुद्धिवृद्ध आदि वृद्धजनोंका अपमान कर बैठते हैं, क्योंकि वे गुणोंको नहीं मानते।

जब धृतराष्ट्रने स्पष्ट शब्दोंमें विदुरसे यह कहा कि भाग्यवाद ही यहां सब कुछ है तो विदुरको अपना उत्तर बहुत सोच समझ कर देना पड़ा। विदुरने सोचा कि यदि दिष्टवादका सीधे खंडन किया जाय तो धृतराष्ट्रको अच्छा न लगेगा। उन्होंने कहा— "यदि स्वयं बृहस्पति भी बिना अवसरकी बात कहें तो उन्हें नीचा देखना पड़ेगा। ये बृहस्पति कौन हो सकते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें हमारा ध्यान लोकमत दर्शनके संस्थापक आचार्य बृहस्पतिकी ओर जाता है जो चार्वाक भी कहलाते थे। विदुरका तात्पर्य यही था कि बृहस्पतिके समान भी कोई सुन्दर भाषण करनेवाला हो तो उसे भी अवसरके अनुकूल ही बोलना चाहिए।' इस भूमिकाकी बातमें विदुरने द्वेष और प्रिय व्यक्तियोंका विवेचन किया— 'मन जिसे अप्रिय मानता है उसे उसका कुछ भी अच्छा नहीं लगता पर प्रियका सब कुछ सुहाता है। नियतिवादीकी दृष्टिमें प्रिय वह है जो दानसे, चापलूसीसे या मंत्रौषधिसे प्रिय बन जाता है किन्तु प्रज्ञावादी उसे ही प्रिय मानता है जो सहज स्नेहसे प्रिय और हितू है। इसी प्रकार क्षय और वृद्धि भाग्यके खेल नहीं हैं। इनमें भी मनुष्यके पुरुषार्थका करिश्मा और कर्मका जादू काम करता है। कैसा

भी क्षय हो यदि उसके साथ पुरुषार्थ जूड़ा हुआ है और वह वृद्धिकी और उन्मुख है तो उसे क्षय नहीं माना जा सकता। किन्तु कैसी भी समृद्धि हो यदि वह पुरुषार्थसे शून्य हो तो उसे क्षय ही समझना चाहिए। ज्ञात होता है कि बृहस्पतिके लोकायत दर्शनका भी किसी अंशमें मंखली गोशालके प्रत्यक्ष-वादी दर्शनमें अन्तरभाव हो गया था। भिन्न-भिन्न दर्शनोंके इन बटे हुए तारोंको पहचानने और अलग करनेके लिए बहुत प्रयत्न और धैर्यकी आवश्यकता है।

अविवित्साका एक अर्थ अधिक जाननेकी इच्छाका अभाव भी है। नियतिवादी या अन्य नास्तिक दर्शन, आत्मा, ब्रह्म आदिके सम्बन्धमें उहापोहसे भागते थे। ऐसा माननेवाले गुरुकुल वास या पढने-लिखनेको व्यर्थ समझकर खट्वारूढ बन जाते थे अर्थात् वैदिक स्वाध्याय और चरणोंके नियमित अध्ययनसे विमुख होकर गृहस्थ हो जाते थे (३९।२७)। प्रज्ञावादकी दृष्टिसे ऐसा करना उचित नहीं क्योंकि उससे बादमें पछताना पडता है। नियतिवादका परिणाम श्रमण धर्म था। अर्थात् घरबार छोडकर वैराग्य साध लेना। यह अच्छी स्थिति न थी। प्रज्ञावादीकी दृष्टिमें अग्निहोत्र, शील, सदाचार, विवाह, दान, भोग, स्त्री, धन, अध्ययन और वेद इन सबका मूल्य है और जीवनके लिए सबकी आवश्यकता है। धम्मपदके मलवग्ग और कोधवग्गके कुछ श्लोक और विचार प्रज्ञावादी दर्शनमें ज्योंके त्यों पाये जाते हैं जैसे अक्रोधेन जयेत्क्रोधं साधुं साधुना जयेत् आदि।

विदुर-नीति प्रज्ञावादका रचनात्मक शास्त्र प्रतीत होता है। आस्तिक ब्रह्मवाद या कर्मयोगका समन्वय प्रज्ञावादी दर्शनसे था। कृष्णने गीतामें 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' (गीता २।११) कहकर अर्जुनके प्रज्ञावादकी कुछ हंसी की है। किन्तु वह असली प्रज्ञावादकी निन्दा नहीं, वह तो प्रज्ञावादका रंगा चोला पहने हुए उन झूठे विचारोंकी निंदा है जिनके द्वारा अर्जुन कर्म और पुरुषार्थपर हरताल पोत देना चाहते था। यह कहा जा चुका है कि धृतराष्ट्र नियतिवादी और विदुर एवं युधिष्ठिर प्रज्ञावादके अनुयायी थे। धृतराष्ट्रने प्रज्ञावादी युधिष्ठिरके बारेमें चर्चा छोडी थी कि वे किस प्रकार रहते और कर्म करते हैं। विदुरने बहुत तरहसे प्रज्ञावादका दृष्टि कोण धृतराष्ट्रके सामने रक्खा पर फल कुछ न निकला। ढाकके वही तीन पात। अंतमें धृतराष्ट्रने स्पष्ट कह दिया- 'हे विदुर तुम जैसा कहते हो ठीक है। तुम्हारे समझानेसे भरी मति भी वैसी बन जाती है। पर पाण्डवोंके प्रति मेरी वह बुद्धि दुर्योधनको देखते ही चट बदल जाती है। कोई भी मनुष्य दिष्टि या भाग्यका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिए भाग्य प्रधान है, पौरुष निरर्थक है (४०।२८-३०)। किस शिष्यमें शिक्षकका प्रयत्न कभी ऐसा व्यर्थ हुआ होगा? धृतराष्ट्र तो केवल कानके रसिया थे। उन्होंने शुरूमें ही कहा था- 'हे विदुर, तुम कहो मैं सुननेके लिए ही बैठा हूं (३९।१)। इस कानसे सुना उस कानसे निकाल दिया- यही धृतराष्ट्रका रवैया था। हृदय परिवर्तनके लिए सच्चा प्रयत्न और निश्चयात्मक विचार धृतराष्ट्रके चरित्रमें न था। अतएव सुननेके लिए उन्होंने एक करवट और ली, जैसा हम सनत्सुजात नामक पर्वके अगले प्रकरणमें देखते हैं।

मानव धर्ममें सच्ची शांति

(लेखक— श्री वैद्य लालचन्द एम., परीख)

★

विश्वयुद्धका डर है कि मानव कर्म और भावनाओंसे परिणाममें आते हुए विनाशका डर है?

वर्तमानयुगके मानव महानाशको आमंत्रण दे रहे हैं। हरएक मानवको भूख है, कुछ न कुछ असंतोष है, प्रत्येक मानवके मन–वचन–कायाके योग अनोखे देखनेको मिलते हैं। विश्वके देशदेशके नेता, सत्तावाले विश्वयुद्धसे डरते हों ऐसा दिखावा तो करते हैं और जगत्पर शांतिका पैगाम लेकर दौडादौड करते हुए देखनेको मिलेंगे। अनेक प्रकारकी परिषदें होती हैं। इकट्ठे होकर सब लोग अपने अपने सुर मिलाते हैं, लेकिन जहां सब लोग अपने अपने हृदय घर पर ही रखकर जाते हों, वहाँ ऐसी परिषद्का परिणाम शून्यमें ही आता है।

परिषद् करनेवाले और इसमें हिस्सा लेनेवाले पवित्र हृदयसे, ईश्वरको साथ रखकर, विश्वके समग्र मानवोंका कल्याण करनेके लिये पुरुषार्थी बननेके लिये प्रयत्न करेंगे सत्ताका मोह छोडकर सच्चे बनें और ईश्वरको साथ रखकर परिषद् भरेंगे, तो ईश्वर भी उनकी मदद करेगा और उसका परिणाम भी अच्छा निकलेगा।

मानवकर्मोंने आज जगत्पर तांडव खडा किया हुआ है और वह है, निकट भविष्यमें विश्वयुद्ध। आज हरएकके मनमें युद्ध खेल रहा हो ऐसा देखनेको मिलेगा। वर्तमान परिस्थिति जो भी देखनेमें आती है उसके मूल अपने सब मानवके कर्म ही हैं। आखिरी बीस वर्षमें मानव हृदयका पलटा। जीव जीवके संबंध और वर्तमान परिस्थिति, वर्तमान राज्य और उसकी नीति क्या कर रही है वह सब लोग देख रहे हैं। गरीबसे लेकर धनिक और सत्तावाले भी उसमेंसे बचे नहीं हैं। हरएक अपने हृदयसे पूछें, उसको किसकी जरूरत है! कैसी भूख है! कैसी भावना है, कैसे कर्म हैं, कैसी इच्छाके पांसे वह खेल रहा है। इस जगत्के रंगमंचपर वह क्या क्या खेल रहा है? उसमें स्वार्थ कितना और परमार्थ कितना है? वचन–मन–और कायाका साम्य है? यह विचारना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसका जब शुद्ध भावसे विचार किया जाय तो विश्वयुद्धके स्वप्न या डरजनक विश्वयुद्धमेंसे हम मुक्त हो सकेंगे।

आज जहाँ भी युद्ध चलता है और युद्धकी तैयारियाँ चल रही हैं। उसमें जनताकी कितनी आवाज है? उसपर कोई भी दृष्टि नहीं डालता। २५ वर्ष पहले जो शांति थी, जो मानवकी परिस्थिति थी, उसके बदले आज उल्टी देखनेको मिलती है, सबमें भी रंग लगा है जडवादका। धन लालसासे अनेक प्रकारके कर्मोंके द्वारा धनप्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता है। सुख प्राप्त करनेके बदले जगत्में ऐसे कर्मोंसे दुःख, और वैर खडे होते हैं। मिथ्याभिमान दूर हो जाय तो सत्तावाले फरिश्ते जैसे बनकर पूजे जाने लगे, मानव मानवसे बन्धुत्वभाव बरतें और जिस तरहका विश्वयुद्ध नजरके सामने है इसमेंसे बच सकें।

ईश्वरका भय रखनेवालोंको विश्वयुद्धका डर नहीं होता है जिसे ईश्वरका डर है वह ही सच्चा शांतिचाहक है। जहाँ ईश्वरका डर नहीं है, वहाँ विश्वयुद्धका बहुत डर है। उसमेंसे कोई भी नहीं बच सकेगा। शायद कुछ महान् लोग और सत्तावाले शुभ भावनासे या ईश्वरका डर रखकर मानवसेवा करते हों या शांतिचाहक हों, लेकिन वर्तमान युग है बहुमतका, उसमें उत्तम बुद्धिवालोंको जीनेका हक नहीं है ऐसा बहुमतवाले कहते हैं और उनके सहारे सत्ता शासन चलाते हैं। अपनी आवाज प्रजाकी आवाज हैं ऐसा दिखाते हैं, इससे प्रजाको सहन करना ही पडता है।

तरह तरहके स्थलपर परिषद् बनाकर उसमें शांतिके लिये बोलते हैं। लेकिन अन्तःस्थलमें तो युद्ध करनेकी ही योजनाएँ बनाते हैं। विश्वकी बडी बडी सत्ताएँ शांतिके नामकी आडमें कई तरहके शस्त्र बनाती हैं। इसका हम विचार करेंगे तो स्पष्ट दिखाई देता है कि, वे लोग विश्वयुद्धको नजदीक ला रहे हैं।

जगत्पर जब आसुरीशक्तिका साम्राज्य हो तब दैवीशक्तिवाले क्या अच्छा परिणाम ला सकेंगे? जहाँतक आसुरीशक्तिका तांडव हो रहा है वहाँ तक अशांति रहेगी। सत्तावालोंकी बात एक ओर रखें और अपने कर्म या समूह कर्मका फल यह वर्तमान कलियुग है। हरएक मानवी लूट चला रहा हो ऐसा दिखाई देगा। आज भाई-भाईका संबंध, सेठ-नौकरका संबंध, पति-पत्नीका संबंध, पिता-पुत्रका संबंध जैसा होना चाहिए वैसा नहीं दिखाई देता। सब लोग स्वार्थमें अंधे बनकर कर्म करते हैं। एक दूसरेके संबंध रहे ही नहीं। तो फिर वर्तमानमें घर घर युद्ध ही चलता है न? उसमेंसे कौन बचा है? यह है युगका प्रभाव।

जगत्परके प्रत्येक मानवके हृदयमें जब प्रभुका वास होगा, प्रभुका डर रहेगा तब कर्मोका पलटा हो जायेगा। मानव मानवके संबंध बढेंगे, कर्तव्य पालनका ज्ञान होगा और मानवके हितके कार्य सब लोग करेंगे तब जिस प्रकार परिषद् द्वारा तूफान और शोर मचाकर शांति लानेकी बात होती है उसके बदले मन-वचन और कायाके शुभ पवित्र भाव शांति पैदा करके जगमें प्रभुताका दर्शन करायेंगे। शस्त्र-सामग्री और साधन द्वारा और सत्ताके मिथ्याभिमानमें किसीने भी मानवका कल्याण किया नहीं है, उसके बदले जगत्पर युद्धका मैदान तैयार किया है और महाभारत खेला गया है।

मानवधर्ममें शांति है

मानव कल्याणकारी शांतिका उपाय, एक ही है और वह यह है कि, आखिरी कुछ सदियोंसे मानव जडवादकी ओर दौड रहा है, वह दौडमेंसे पीछे लौटे और जडवादकी लालसा छोडकर मानवधर्मको स्वीकार करे। आज मानवने मानवता छोड दी हो ऐसा दिखाई देता है। मानव दूसरेको लूटकर दूसरेको दुःख देकर और उपभोग करनेके लिये अकेला चाहता है। मानवता चली गई फिर शांति मानवको कैसे मिलेगी! मानवके हृदयमेंसे सत्यता लुप्त हो गई, कर्तव्य पालनका अकाल पडा, बन्धुभाव और प्रभुपंथका नाश हो गया है; सुविचार अस्त हो गए; फिर ईश्वर अदृश्य हो जाय इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जब मानव मानवधर्मको समझेगा तब जगत्में शांति फैलेगी।

कर्मका नियम

वर्तमानमें मानवकी मस्तीने ही विश्वयुद्ध खडा किया है, शांति चाहक भी आज व्यर्थसे प्रतीत होते हैं, इसका कारण विश्वपरके मानवोंके कर्मका जोर है। कर्मका नियम है वह सदा अचल है, उस नियममेंसे गरीब, महान् लोग, सत्तावाले या साधु, महात्मा और नेता भी छूट नहीं सकते। वहाँ सत्ता भी कुछ कर नहीं सकती। धनिकका धन और गरीबकी गरीबी, बेकार है, लांच देकर छूट नहीं सकते, वहाँ मिथ्याभिमान भी कुछ नहीं कर सकता।

विश्वयुद्धके भयमेंसे मुक्त होनेके लिये अकेले कर्मके नियमको समझकर मानव मानवसे फिरसे मानवता भरा व्यवहार शुरू करें और वर्तमानकी जडवादी भावनाको ईश्वर ईश्वरीय भावनासे युक्त करे तो अब भी कुछ बिगड नहीं गया। ईश्वर कृपालु और दयालु है, वह सबके दिलमें बसकर शांति उपासक बनकर सब जगह पर शांति फैलायेगा।

अब कर्मका उदय नजदीक है वह विकराल स्वरूप अपनायेगा तो युद्धमें सबको कुछ लोगोंके कर्मके नियमके आधारपर नुकसान होगा और उस नुकसान भोगनेकी इच्छा हो न हो तो भी सबको तैयार रहना पडेगा। ईश्वर सबको सद्बुद्धि देकर सुमार्गपर ले जाय और जगत्में शांति सर्वव्यापक बने, तो विश्वपर सर्वत्र सच्चा सुख देखनेको मिलते ही कलियुगमेंसे मुक्ति पाकर सत्ययुगके दर्शन होंगे।

—अनु. श्री विजयकुमार लालचन्द, परीख

गायत्रीकी गरिमा

[लेखक— श्री शिवनारायण सक्सेना, एम. ए., विद्यावाचस्पति सि. प्रभाकर]

सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक गायत्री मंत्रकी महिमा समय समय पर सन्त, महात्मा, तथा समाज सुधारक कहते आये हैं। सभी मंत्रोंमें श्रेष्ठ मंत्र और सभी प्रार्थनाओंमें श्रेष्ठ प्रार्थना गायत्रीकी ही मानी गई है। बुद्धि शुद्धिकी यह प्रार्थना मानव मात्रको करनी चाहिए। क्योंकि बुद्धिमें शुद्धता होगी, विचारोंमें पवित्रता होगी तो प्रगतिके सब द्वार अपने आप खुल जावेंगे। ईश्वर उपासनाका श्रेष्ठतम और सरलतम मार्ग गायत्री मंत्रका जाप ही है। इस मार्गको जो अपनाता है उसके सम्मुख सांसारिक विघ्न बाधाएँ अपने आप किनारा कर जाती हैं। प्रत्येक उपासक अपने मन, हृदयक और विचारोंको अधिकसे अधिक सात्विक बना सकता है। सतोगुणकी बुद्धि अपने आप होती जाती है। एक तालाब जिसमें काई पडी हुई हो, पानी दिखाई तक न पडता है, जब उसमें एक पत्थरका टुकडा डाला जाता है तो थोडीसी काई हट जाती है, निरन्तर पत्थर डालते रहनेसे वह सारी काई और गन्दगी एक किनारे पर आ जाती है। वैसे निरन्तर गायत्री उपासना करते रहनेसे मनके गन्दे विचार, दूषित बातें और सारे विकार दूर हो जाते हैं।

गायत्री मंत्रका अर्थ पूर्णरूपेण, यह स्पष्ट करता है कि संसारकी सबसे बडी वस्तु बुद्धि ही है। कोई व्यक्ति कितना ही सुन्दर क्यों न हो, अच्छे अच्छे कपडे पहने हो, सुगन्धित द्रव्योंका प्रयोग किये हुये हो, सम्पत्ति भी खूब हो पर यदि बुद्धि अविकसित हो तो सारी सुन्दरता और सारी सम्पत्ति व्यर्थ ही मानी जावेगी। बुद्धिहीन व्यक्तिका जीवन पूरी तरहसे व्यर्थ माना जाता है। चुम्बकमें जितनी आकर्षण शक्ति होती है उसीके अनुसार लौहकण उससे आकर मिल जाते हैं। पर गायत्री मंत्रमें इतनी अधिक आकर्षण शक्ति है कि उसके ठीक ढंगसे प्रयोग करनेपर सारी सात्विक विचारधारा एकत्रित होकर अन्तःकरणमें जमा होने लगती है। व्यक्तिकी मानसिक शक्ति बढती है और आत्मामें प्रबलता आती है। भले ही आत्मिक बल दिखाई न पडे पर व्यवहारमें शिष्टतामें उसकी शक्तिका सबको लोहा मानना पडता है। पुराने सन्त महात्माओंने किसी न किसी रूपमें गायत्री मंत्रकी उपासना की थी और इसीका प्रचार और प्रसार भी किया था। मानव मात्रकी यह सम्पत्ति किसी व्यक्ति, जाति, दल या सम्प्रदाय विशेषके उपभोगके लिये नहीं है। सभीको समान रूपसे इस मंत्रको जपनेका अधिकार है।

महात्मा दयानन्द सरस्वतीने सारे जीवनमें धर्मप्रचार किया। कर्णवासमें जब स्वामीजीसे विरोधियोंने शास्त्रार्थ किया। तो उनकी विजयकी दुंदुभी चारों ओर बजने लगी। अनेक लोगोंने वहीं उपदेश लिया, यज्ञोपवीत धारण किया और गुरुमंत्रके रूपमें गायत्री मंत्र लिया। अध्यात्मकका अमृत गायत्री मंत्र सबको ही स्वामीजी द्वारा दिया गया। अन्तिम समय भी जिस मंत्रका उच्चारण स्वामीजीने किया था वह भी गायत्री मंत्र ही था। लोकमान्य तिलकने भी एक बार कहा था, 'गायत्री मन्त्रके अन्दर वह भावना है कि वह कुमार्ग छुडाकर सन्मार्ग पर चला दे।' गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोरने तो हिन्दूमात्रको सारे भेदभाव त्याग कर गायत्रीकी ध्वजाके नीचे सभीको संगठित रूपसे एकत्रित हो जाना चाहिए उसकी सरलता और महत्ताकी विवेचना इस प्रकार की है 'भारतवर्षको जगानेवाला जो मंत्र है वह इतना सरल है कि एक ही श्वासमें उच्चारण किया जा सकता है। यह है गायत्री मंत्र। इस पुनीत प्रेमका अभ्यास करनेमें किसी प्रकारके तार्किक उहापोह, किसी प्रकारके मतभेद अथवा किसी प्रकारके बखेडेकी गुंजाइश नहीं है।' आईए! लगे हाथों आपको इस सम्बन्धमें अध्यात्मप्रेमी राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णनकी विचारधारासे परिचित करादें 'यदि हम इस सार्वभौतिक प्रार्थना गायत्रीपर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि यह हमें वास्तवमें कितना ठोस लाभ देती है। गायत्री हममें फिरसे जीवनका स्रोत उत्पन्न करनेवाली आकुल प्रार्थना है।'

चारों वेदोंकी तुलना जब एक गायत्री मंत्रसे की गई तो गायत्री मंत्रका ही पलडा भारी रहा है। तपस्या करना, दान देना, स्वाध्याय करना और अन्य सभी धर्म कर्मोंमें गायत्री मंत्र ऊंचा बताया गया है। मनु महाराजने तो नियमित रूपसे तीन वर्षतक गायत्री साधना करनेवाले व्यक्तियोंको ईश्वर प्राप्तिका लाभ बताया है। योगिराज याज्ञवल्क्यने जो कहा है उससे आंखे खुल जाती हैं, अज्ञानका पर्दा हट जाता

है ' गायत्रीसे श्रेष्ठ मंत्र न हुआ न आगे होगा। गायत्री जान लेनेवाला समस्त विद्याओंका वेत्ता और श्रेष्ठि श्रोत्रिय हो जाता है। ' पापके गढेमें गिरनेवालेको तिनकेका सहारा गायत्री मंत्र द्वारा ही मिलता है। क्या आपने कभी यह विचारा है कि मानव शरीर क्यों मिला है ? बुद्धि और शरीरका सद्‌उपयोग क्या है ? सुबहसे शाम होती है और सारा वक्त योंही व्यर्थ चला जाता है। बडीसे बडी विपत्तियोंमें विश्वाससे गायत्री मंत्रका जाप कीजिए अवश्यमेव वे कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी आपका कार्य सिद्ध होगा। जिसने गायत्री जैसे अद्‌भुत शक्तिका सहारा ले लिया फिर उसके बाह्य या सांसारिक प्राणियोंकी सहायता लेनेकी आवश्यकता नहीं पड सकती।

इस मंत्रकी अपार शक्तिकी जितनी भी व्याख्या की जावे वह थोडी ही है सभी मंत्रोंसे अधिक गायत्री मंत्रका ही वर्णन समस्त ग्रन्थोंमें किया गया है। पढे लिखे व्यक्ति तो गायत्री मंत्रका नाम किसी न किसी रूपमें जानते हैं पर भारतमें आज भी करोडों व्यक्ति ऐसे होंगे तो गायत्री मंत्रकी स्पष्ट व्याख्या और अर्थकी बात तो दूर रही गायत्री मंत्र सुनानेमें असमर्थता प्रकट करेंगे। लाखों साधु चिमटा और कमंडल लिये पेट पूजाके लिये इधरसे उधर घूमते फिरते हैं, जिनमेंसे ७५ % ऐसे हैं जो गायत्रीसे अपरिचित है। सर्व श्रेष्ठ जाति ब्राह्मण भी अपने कर्तव्य कर्मको छोडकर इधर उधर भटकती जा रही है, इस बातमें कोई शंका नहीं कि जबतक यह देश ब्राह्मणोंकी पूजा नहीं करेगा तब तक इसका कल्याण सम्भव नहीं पर कर्मकाण्डी और सुधारक ब्राह्मणोंकी भी आवश्यकता है जो तन मनसे धर्मका प्रचार करें और गायत्री मंत्रका महत्व जन जनको बतावें। पर ऐसे ब्राह्मण आज मिलते ही कहाँ हैं, जबसे लोगोंने अपने अपने सिद्धान्तों और कार्योंको तिलांजलि दे दी, तबसे यह अवनतिके मार्ग पर बराबर बढता जा रहा है।

पूजापाठ बुढापेकी निशानी मानी जाने लगी। बच्चों तथा युवकोंको ईश्वर उपासनामें लगना समाजके लिए एक मजाक बनती जा रही है। फिर ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं जो एक माला जपने, सुबह शाम आरती करने, या दीपक जलानेसे ही मुकद्दमा जीतने, परीक्षामें उत्तीर्ण होने, सन्तानका मुख देखने, अच्छी शादी होने, उच्च शिक्षा ग्रहण करने, अधिक यश प्राप्त करने, कुसी जीतने तथा लाभ ही लाभ होनेकी निरन्तर सोचा करते हैं। ये उथली बुद्धिजीवी व्यक्ति मनोकामना अपूर्व रहनेपर, मनोवांछित फल न मिलनेपर ईश्वरसे मुख मोड लेते हैं, माला तोड देते हैं, यज्ञकुण्ड हटा देते हैं और नास्तिकताका नारा लगाने लगते हैं। जो वस्तु जितनी कीमत की है उतनी देनेपर ही तो मिल सकती है। जितना बडा कार्य होगा, उतना ही अधिक श्रम करना होगा। वैसे मैं यह नहीं कहता कि भौतिक वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं होती, होती है और अवश्य होती है। महात्मा गान्धीने स्वयं कहा है ' गायत्री मंत्रका निरन्तर जप रोगियोंको अच्छा करने और आत्माओंकी उन्नतिके लिये उपयोगी है, गायत्रीक स्थिर चित्त और शान्त हृदयसे किया हुआ जप आपत्ति कालके संकटोंको दूर करनेका प्रभाव रखता है। '

प्रत्येक कार्य करनेकी अलग अलग विधियाँ होती हैं। कारखानोंमें विभिन्न प्रकारकी मशीनें लगी होती हैं। तरह तरहके रेल, मोटर, कार, ट्रेक्टर, ट्रक, वायुयान, और जहाजरानी जैसे अनेक वाहन हैं पर सबके चलानेका एक ही ढंग नहीं होता, मनमाने ढंगसे मशीनोंको प्रारम्भ कर देनेके परिणाम बडे भयंकर दिखाई पड सकते हैं। यही कारण है जो साधनारत व्यक्तियोंको भी अधिक समयतक सफलता नहीं मिलती। रेडियोकी सुई बम्बई पर रहेगी तो वहींकी आवाज हमारे कानमें आ सकती है। देहलीकी खबरें सुननेके लिये हमें घुमाकर सुईको देहली पर पहुँचाना होगा। इसलिये भाग्यको गाली देने या ईश्वरके प्रति आस्था कम रखनेसे क्या लाभ होगा। मनकी सुई जिस स्टेशनपर लगी हो वहींकी ध्वनि आपके पास आ सकेगी। माला फेर रहे हैं मन मिठाईमें है, फिर आपको सच्ची साधनाका फल कैसे मिल सकता है। इन दिनों सभी व्यक्ति भौतिकी–व्यामोहके चक्करमें पडकर अपने जीवनको दुःखी बनाये हुये हैं उन्हें क्षणक्षण अशान्तिका अनुभव होता है पर उस अशान्तिको पूरी तरहसे हटानेके लिये गायत्री मंत्रका जप करना होगा और उस जपसे ही अन्तःकरणकी कालिमा धुलेगी, चित्त शुद्ध होगा।

अध्यात्मप्रेमी सज्जनो! आजसे ही साम्यवादकी जड भारतमें न जमनेके लिये आस्तिकता और धर्मका वट बीज बोइये गायत्री मंत्रका उसमें पानी दीजिए। नित्य उपासना कीजिए आप कितने ही व्यस्त रहते हों फिर भी ५-६ मिनटका समय निकालकर भोजन करनेसे पूर्व गायत्री मंत्रकी एक माला जप सकते हैं। आलस्य हटाइये, तन्द्रा भगाइये, कायरताको पास न आने दीजिए और अधिकसे अधिक समय गायत्री साधनामें लगाकर जीवन सार्थक बनाइये।

राष्ट्रके लिए वैदिक वृष्टि-विज्ञान

लेखक— श्री रणछोडदास 'उद्धव' संचालक अ. भा. रविधाम, केन्द्र महिदपुर [म प्र.]

[गताङ्कसे आगे]

पुरोवात, अभ्र, विद्युत् और स्तनयित्नु, इन चारों सहयोगियोंके एकत्र समन्वयसे ही वर्षाकर्मकी प्रवृत्ति मानी गई है। सुप्रसिद्ध पुरवाई हवा 'पुरोवात' है। प्रत्यक्ष दीखनेवाला धूम-ज्योति-सलिल-मरुत् (बाष्प, अग्नि, पानी और वायु) की समष्टिरूप बद्दल 'अभ्र' है। प्रत्यक्ष दीखनेवाली बिजली 'विद्युत्' है एवं प्रत्यक्ष सुननेमें आनेवाली गर्जना ही 'स्तनयित्नु' है। सर्वप्रथम पुरोवातका सञ्चार होता है। उससे इधर-ऊधर खण्डभावसे बिखरे हुए बद्दलोंका नियत आकाशप्रदेशमें एकत्र समन्वय हो जाता है। बद्दलकी घनतासे उत्पन्न वायु, अग्निजलीयघर्षणसे बिजली उत्पन्न हो जाती है और साथ ही गर्जना भी। इस सम्पूर्ण सामग्रीके मिलते ही 'तड-तड' प्रतिध्वनिके साथ वर्षा होने लगती है। प्राकृतिक प्राणदेवताओंके प्राकृतिक संवत्सरयज्ञसे सम्बन्ध रखनेवाले आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्मकी- 'ओ श्रावय' रूपा प्रथम व्याहृतिका फल पुरोवात है। 'अस्तु श्रौषट्' व्याहृतिसे अभ्रका सम्बन्ध है। 'यज' से विद्युत् 'ये यजामहे' से स्तनयित्नुका एवं तड-तड प्रतिध्वनिवाली वर्षाका 'वौषट' से सम्बन्ध है। इस प्रकार प्राकृतिक प्राणदेवता पाँच व्याहृतिवाले इसी आश्रावण-प्रत्याश्रावणकर्मसे वर्षाके प्रवर्तक बन रहे हैं।'

उक्त यज्ञका मनोविज्ञानसे सम्बन्ध है। म. म. श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजीने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' में लिखा है कि-'पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने कुछ कालसे परचित-विज्ञानकी प्रक्रिया ढूँढ निकाली है। मनुष्यके आन्तरिक विचार जैसे होते हैं, उनके अनुसार उसके वातावरण (वायुमण्डल) में वैसे ही परिवर्तन होते रहते हैं। वातावरणकी परीक्षासे मनुष्यके विचार मालूम कर लिये जाते हैं कि यह क्रोधी है, मानी है, कामी है या शान्त है' इत्यादि।

हमारे यहाँ बहुत पुराने समयसे दूसरेके मनकी बात जान लेनेकी विद्याकी चर्चा है। किन्तु हम लोगोंका प्रायः यही विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्तिसे परचित्तज्ञान होता था। हमें आश्चर्य होता है, जब कि हम अथर्व-संहिताके एक मंत्रके आधार पर शतपथ-ब्राह्मणमें आधिभौतिक रीतिसे वैज्ञानिक तरीकेसे ही परचित्त-विज्ञानकी बात स्पष्ट पाते हैं। शतपथके का. ३, अ. ४, प्र. २, कण्डिका ६ में लिखा है—

मनो देवा मनुष्यस्थाजानन्तीति, मनसा संकल्पयति तत्प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे, तथा पुरुषस्य मनः। तस्मादेतद्दृषिणाभ्यनूकम्—

मनसा संकल्पयति तद्वातमपि गच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः॥

इसका स्पष्ट सीधा-सादा अक्षरानुवाद यह है कि देवता लोग मनुष्यके मनको जानते हैं, मनुष्य जो कुछ मनमें संकल्प (विचार) करता है, वह उसके प्राणमें चला जाता है और प्राण बाहरके वायुमें आता है। वह वायु देवताओंको बता देता है, जैसा कि पुरुषका मन है। इस अर्थमें अथर्वसंहिताका मन्त्र प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया जाता है— मनसा सङ्कल्पयति इत्यादि। इसका भी यही अर्थ है कि मनसे जो विचार किया जाता है, वह वायुमें प्राप्त हो जाता है और वायुदेवताओंसे कह देता है जैसा कि पुरुषका मन है।'

हम अनेक बार देख चुके हैं कि- जब वर्षा नहीं होती है तब लोग उज्जयिनी करते हैं। सब गाँवके लोग बाहर जाकर स्नान-ध्यान करते हैं और देवोंको नैवेध-धूप लगाकर वहीं भोजन प्रसाद लेते हैं। जब वापिस घर आते हैं तो पानी गिरता है। जितना श्रेष्ठ मनका संकल्प होता है उतना ही शीघ्रफल देनेवाला होता है। उपर्युक्त शतपथश्रुतिमें वृष्टिके शास्त्रीय प्रयोगके साथ मानसध्यान बतलाया है, वह करके देखना चाहिए।

स्वकर्मयज्ञसे वृष्टि—

यज्ञ शब्द ' यज् ' धातुसे बनता है। यज् धातुका अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान है। अपनेसे जो बडे हैं, वे देवसमान हैं। उनकी पूजा करना यज्ञ है। बराबरवालोंके साथ संगति करना और छोटोंको कुछ देना भी यज्ञ ही है। यह छोटाई-बडाई केवल मनुष्योंमें ही न समझनी चाहिए, प्रत्युत् संसारका चाहे जो पदार्थ हो, चाहे जो शक्ति हो और चाहे जो गुण हो, यदि वह बडा है तो पूजनीय है, यदि बराबरवाला है तो मिलनेके योग्य है और यदि छोटा है तो कुछ पानेका अधिकारी है। जिस प्रकार उक्त तीनों व्यक्ति हमसे पूजा, संगति और दान पानेके अधिकारी हैं, उसी तरह हम भी दूसरोंके द्वारा योग्यतानुसार पूजा, मेल और दान पानेके अधिकारी हैं, इस प्रकारसे समस्त जड और चेतन जगत्को परस्पर एक दूसरेसे लाभ पहुँचाना ही यज्ञ है। ऐसे महान् यज्ञको शतपथ ब्राह्मण १।७।४५ में—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म

श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि जितने श्रेष्ठतम कर्म हैं, सब यज्ञ ही हैं।

—वैदिक सम्पत्ति

मनुष्यका स्वकर्म या स्वधर्म भी श्रेष्ठतम कर्म है। गीतामें इसका गुणगान किया है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

' हो परधर्म रुचिर, गुणवाला, पर स्वधर्म निर्गुण भी श्रेय,
' मरना भी शुभ है स्वधर्ममें, धर्म पराया भयप्रद हेय॥ '

गीता ३।३५

इस स्वधर्मरूपी स्वकर्मयज्ञका उत्तम उदाहरण श्रीमद्-भागवत स्कन्ध १० अध्ययाय २४ में है।

श्रीशुकदेवजी महाराजा परीक्षितको कहते हैं— वे ब्राह्मण कंसके भयसे अपने-अपने आश्रमोंमें ही रह-कर भगवान्की आराधना करने लगे। इधर भगवान्ने बल-भद्र सहित व्रजमें रहते हुए एक समय देखा कि गोपलोग इन्द्रयज्ञ करनेका उद्योग कर रहे हैं। भगवान् तो सबके आत्मा अन्तर्यामी हैं, वह सबके मनकी जाननेवाले सर्वज्ञ हैं, अतएव उनसे कुछ छिपा नहीं है, वह सब जानते थे; तथापि विनयपूर्वक नम्र होकर उन्होंने नन्द आदि बडे-बूढे गोपोंसे पूछा कि— " पिताजी ! आप लोगोंके सामने यह कौनसा बडा भारी काम, कौनसा उत्सव आ पहुँचा है ? इसका फल क्या है ? किस उद्देश्यसे कौन लोग किन साध नोंके द्वारा यह यज्ञ किया करते हैं ? पिताजी ! आप मुझे यह अवश्य बतलाइये। आप मेरे पिता हैं और मैं आपका पुत्र। ये बातें सुननेके लिए मुझे बडी उत्कण्ठा भी है। पिताजी ! जो संत पुरुष सबको अपनी आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टिमें अपने और परायेका भेद नहीं है, जिनका न कोई मित्र है, न शत्रु और न उदासीन— उनके पास छिपा-नेकी तो कोई बात होती ही नहीं। परन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो, तो रहस्यकी बात शत्रुकी भाँति उदासीनसे भी नहीं कहनी चाहिए। मित्र तो अपने समान ही कहा गया है, इसलिए उससे कोई बात छिपाई नहीं जाती।

ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति।
विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्॥६

' यह संसारी मनुष्य समझे-बेसमझे अनेकों प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है। उनमेंसे समझ-बूझकर करने-वाले पुरुषोंके कर्म जैसे सफल होते हैं, वैसे बेसमझके नहीं। ' अतः इस समय आप लोग जो कर्म करने जा रहे हैं, वह शास्त्र सम्मत है अथवा लौकिक ही है- मैं यह सब जानना चाहता हूँ; आप कृपा करके स्पष्ट रूपसे बतलाइये। '

नन्दबाबाने कहा— बेटा ! भगवान् इन्द्र वर्षा करने-वाले मेघोंके स्वामी हैं। ये मेघ उन्हींके अपने रूप हैं। वे समस्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाला एवं जीवनदान करनेवाला जल बरसाते हैं। मेरे प्यारे पुत्र ! हम और दूसरे लोग भी उन्हीं मेघपति भगवान् इन्द्रकी यज्ञोंके द्वारा पूजा किया करते हैं। जिन सामग्रियोंसे यज्ञ होता है, वे भी उनके बरसाये हुए शक्तिशाली जलसे ही उत्पन्न होती हैं। उनका यज्ञ करनेके बाद जो कुछ बच रहता है उसी अन्नसे हम लोग अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गकी सिद्धिके लिए अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। हम लोगोंके पुरुषार्थका फल देने-वाले इन्द्र ही हैं। यह धर्म हमारी कुलपरम्परासे चला आया है। जो मनुष्य काम, लोभ, भय अथवा द्वेषवश इसे छोड देता है, उसका कभी मङ्गल नहीं होता।

श्री शुकदेवजी कहते हैं— परीक्षित ! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा, शङ्कर आदिके भी शासन करनेवाले हैं।

उनके लिए इन्द्रको शिक्षा देना कौन बहुत बडी बात है। नन्दबाबा और दूसरे व्रजवासियोंकी बात सुनकर इन्द्रको क्रोध दिलानेके लिए उन्होंने अपने पिता नन्दबाबासे कहा।

श्री भगवान्ने कहा— पिताजी! प्राणी अपने कर्मके अनुसार ही पैदा होता और मर जाता है। उसे उसके कर्मके अनुसार ही सुख-दुःख, भय और मङ्गलके निमित्तोंकी प्राप्ति होती है। यदि कर्मोंको ही सब कुछ न मानकर उनसे भिन्न जीवोंको कर्मफल देनेवाला ईश्वर माना भी जाय, तो वह कर्म करनेवालोंको ही उनके कर्मके अनुसार फल दे सकता है। कर्म न करनेवालोंपर उसकी प्रभुता नहीं चल सकती।

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥

'जब सभी प्राणी अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोग रहे हैं, तब हमें इन्द्रकी क्या आवश्यकता है?' पिताजी! जब वे पूर्व संस्कारके अनुसार प्राप्त होनेवाले मनुष्योंके कर्म-फलको बदल ही नहीं सकते- भाग्यमें बदा, लिलारका लिखा टाल ही नहीं सकते- तब उनसे प्रयोजन? मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्व-संस्कारों) के अधीन है। वह उसीका अनुसरण करता है। यहाँतक कि देवता, असुर, मनुष्य आदिको लिये हुए यह सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित है। जीव अपने कर्मोंके अनुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोडता रहता है। अपने कर्मोंके अनुसार ही 'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है' – ऐसा व्यवहार करता है। कहाँतक कहूँ, कर्म ही गुरु है और कर्म ही ईश्वर। इसलिये पिताजी! मनुष्यको चाहिए कि पूर्व संस्कारोंके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुकूल धर्मोंका पालन करता हुआ कर्मका ही आदर करे। जिसके द्वारा मनुष्यकी जीविका सुगमतासे चलती है, वही उसका इष्ट देव होता है। जैसे अपने विवाहित पतिको छोडकर जार पतिका सेवन करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्तिलाभ नहीं करती, वैसे ही जो मनुष्य अपनी आजीविका चलानेवाले एक देवताको छोडकर किसी दूसरेकी उपासना करते हैं उससे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता।

वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तयाजीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥

'ब्राह्मण वेदोंके अध्ययन-अध्यापनसे, क्षत्रिय पृथ्वी-पालनसे, वैश्य वार्तावृत्तिसे और शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवासे अपनी जीविकाका निर्वाह करें।' वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी है- कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। हम लोग उन चारोंमेंसे एक केवल गोपालन ही सदासे करते आये हैं। पिताजी! इस संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। यह विविध प्रकारका सम्पूर्ण जगत् स्त्री-पुरुषके संयोगसे रजोगुणके द्वारा उत्पन्न होता है। उसी रजोगुणकी प्रेरणासे मेघगण सब कहीं जल बरसाते हैं। उसीसे अन्न और अन्नसे ही सब जीवोंकी जीविका चलती है। इसमें भला, इन्द्रका क्या लेना-देना है? वह भला, क्या कर सकता है?

पिताजी! न तो हमारे पास किसी देशका राज्य है और न तो बडे-बडे नगर ही हमारे अधीन हैं। देश या नगरकी तो बात ही अलग रही, हमारे पास गाँव या घर भी नहीं हैं। हम तो सदाके वनवासी हैं, वन और पहाड ही हमारे घर हैं। इसलिए हम लोग गौओं, ब्राह्मणों और गिरिराजका यजन करनेकी तैयारी करें। इन्द्रयज्ञके लिए जो सामग्रियाँ इकट्ठी की गयी हैं, उन्हींसे इस यज्ञका अनुष्ठान होने दें। अनेकों प्रकारके पकवान- खीर, हलवा, पूआ, पूरी आदिसे लेकर मूँगकी दाल तक बनाये जायँ। व्रजका सारा दूध एकत्र कर लिया जाय। वेदवादी ब्राह्मणोंके द्वारा भलीभाँति हवन करवाया जाय तथा उन्हें अनेकों प्रकारके अन्न, गौएँ और दक्षिणाएँ दी जाँय। और भी, चाण्डाल, पतित तथा कुत्तों तकको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गायोंको चारा दिया जाय और फिर गिरिराजको भोग लगाया जाय। इसके बाद खूब प्रसाद खा-पीकर, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनकर, गहनोंसे सज-सजा लिया जाय और चन्दन लगा कर गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा गिरिराजकी प्रदक्षिणा की जाय।

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते।
अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

'पिताजी! मेरी तो ऐसी ही सम्मति है। यदि आप लोगोंको रुचे तो ऐसा ही कीजिये। ऐसा यज्ञ गौ, ब्राह्मण और गिरिराजको तो प्रिय होगा ही; मुझे भी बहुत प्रिय है।'

भगवान्का मत सबको रुचा और तदनुसार ही स्वकर्म-रूप यज्ञ किया। यह यजुर्वेदके 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्म-वर्चसी जायताम्' इत्यादि मन्त्रका भाष्य ही है। उक्त मन्त्रका अक्षरार्थ आरंभमें दिया है, अब उसके तात्विक अर्थको आगे विचार कीजिए और इस स्वकर्मयज्ञसे मिलाइए।

+ + +

राष्ट्रकी सबसे पहली माँग ही ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणकी। ज्ञानका अधिष्ठाता वर्ग ही ब्राह्मण है। किसी भी राष्ट्रको सुव्यवस्थित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि उसकी ज्ञान-शक्तिको बिलकुल सुरक्षित रक्खी जाय। अशिक्षित राष्ट्र न वीर बन सकता है और न सम्पत्तिशाली बन सकता है। ज्ञानको मूलमें रखकर ही राष्ट्र अपना अभ्युदय कर सकता है। ब्रह्मबल (ज्ञानबल), क्षत्रबल (क्रियाशक्ति) और विड्‌बल (अर्थशक्ति) की मूल प्रतिष्ठा है। जो क्षत्रबल ब्रह्मबलकी उपेक्षा करता है, वह अपने साथ-साथ राष्ट्रके सर्वनाशका भी निमित्त बन जाता है, अतः- 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्म-वर्चसी जायताम्' कहा है।

केवल ज्ञानबलसे ही राष्ट्र समृद्ध नहीं बन सकता, यह भी निश्चित है। क्योंकि समृद्धि कर्म सापेक्ष है। कुछ कर्म किया जायगा, तब समृद्धि होगी। जो वर्ग ज्ञानचिन्तामें निमग्न है, वही कर्म भी करने लगे, यह संभव नहीं है। ज्ञानका अन्वेषण शान्त वातावरणकी अपेक्षा रखता है। सांसारिक कर्मोंमें व्यस्त रहनेवाला कर्मठ व्यक्ति कभी राष्ट्रको ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। उसका तो एकमात्र काम होगा उदरचिन्तासे सर्वथा विमुक्त होकर अनन्यभावसे ज्ञानका अनुष्ठान करते हुए आदेश देना, मार्ग बतलाना। ऐसी दशामें इस ज्ञानोपासक ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणवर्गके अतिरिक्त "राष्ट्रको एक ऐसा वर्ग और चाहिए जो ब्राह्मणके आदेशानुसार राज-दण्ड राष्ट्रका संचालन करता रहे।" यही वर्ग क्षत्रिय कहलायगा। यही हमारे राष्ट्रकी दूसरी माँग होगी— "आ राष्ट्रे राजन्यः।"

जिस प्रकार राष्ट्रके ब्राह्मणवर्गको ब्रह्मवर्चस्वी होना आवश्यक है, इसी प्रकार कर्ता क्षत्रियवर्गमें भी कुछ विशेष योग्यताओंका रहना आवश्यक है। सबसे पहली योग्यता है- 'शूरः'। क्षत्रिय शरीरसे बलवान् होना चाहिए। निर्बल क्षत्रिय कभी राष्ट्रका रक्षण नहीं कर सकता। दूसरी योग्यता है- "इषव्यः"। केवल शरीरबल राष्ट्ररक्षामें तबतक असमर्थ है, जबतक कि शस्त्रबल पासमें न हो। शस्त्रबल ही शूरताप्रसारका कारण है। तीसरी योग्यता है- 'अतिव्याधी'। शरीर भी सबल है, शस्त्रबल भी पर्याप्त है, परन्तु समय- असमयमें यदि रोगोंका आक्रमण होता रहेगा तो एक बलवान् क्षत्रिय भी शस्त्रबलसे काम न ले सकेगा। इसलिए इषव्यः के साथ-साथ इसे रोगरहित रहना चाहिए। चौथी योग्यता है- "महारथः"। बलवान्, शस्त्रयुक्त और नीरोग क्षत्रियको राष्ट्र रक्षाके लिए दूर-दूर तक जाना पडता है। बिना वाहन (रथ, नौका, पोत, हाथी, घोडा-आदि) के यह गमनकर्म सम्पन्न नहीं हो सकता। सुसमृद्ध राष्ट्रके लिए वाहनसम्पत्तिका होना भी अनिवार्य है।

उपर्युक्त चार भावोंसे युक्त क्षत्रियवर्ग ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणके आदेशपर चलता हुआ राष्ट्ररक्षामें पूर्ण समर्थ बन जाता है, अतः- "शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्" कहा है।

राष्ट्रको ब्राह्मणके द्वारा ज्ञानशक्ति मिली, क्षत्रियके द्वारा क्रियाशक्ति मिली, अब सर्वप्रधान अर्थबलकी समस्या राष्ट्रके सम्मुख उपस्थित हुई। ब्राह्मण और क्षत्रिय गोप्ता हैं एवं अर्थ गुप्त है। इन दोनों रक्षकोंसे अर्थबल सुरक्षित रहता हुआ उत्तरोत्तर समृद्ध बनता रहता है। यही अर्थबल राष्ट्रकी तीसरी माँग है। जिसकी रक्षा करता हुआ ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग स्वयं भी अपने-अपने स्वरूपकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। जिस राष्ट्रका अर्थबल समृद्ध एवं स्वतंत्र होगा उसी राष्ट्रमें ज्ञानका विकास होगा एवं वही राष्ट्र शासनदण्डका संचालन करनेमें समर्थ हो सकेगा। 'अर्थ-परतन्त्रता ही राष्ट्रपरतन्त्रताका मूल कारण है।'

राष्ट्रकी अर्थशक्ति कृषि, गोवंश और वाणिज्य इन तीन भागोंमें विभक्त है। इन तीनों कर्मोंका संचालन करनेवाला भी एक स्वतन्त्र वर्ग उपेक्षित है। आध्यात्मिक और आधिदैविक आक्रमणोंसे राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला ब्राह्मणवर्ग और आधिभौतिक (शत्रुके) आक्रमणोंसे राष्ट्रकी रक्षा करनेमें व्यस्त क्षत्रियवर्ग, ये दोनों अर्थशक्ति साधक कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य नहीं कर सकते तथा नहीं करना चाहिए। अवश्य ही इस त्रिविध अर्थकर्मके लिए राष्ट्रका एक स्वतंत्र समुदाय नियत करना पडेगा और वही वर्ग "वैश्य" कहलायगा—

'कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्'। (गीता)

धर्मस्थानीय अतएव शर्मस्थानीय अन्तरङ्ग आक्रमण-रक्षक ब्राह्मण और वर्मस्थानीय बहिरङ्ग आक्रमण-रक्षक

क्षत्रिय, इन दोनों रक्षकोंसे रक्षित वैश्य गुप्त रहेगा, सुरक्षित रहेगा। परिचर्यानुगामी एक चौथा दल और नियत करना पडेगा, वही राष्ट्रका सेवाबल होगा और यह वर्ग " आशु द्रवति '(सेवाभावके लिए जल्दी दौडनेवाला) इस निर्वचनके अनुसार शूद्र कहलायगा ! अर्थशक्तिसे ही सम्बन्ध रखनेवाला राष्ट्रका कला-कौशल इस चौथे वर्गके लिए ही नियत रखना पडेगा—

" परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापिस्वभावजम् "।
(गीता)

कृषि, गोरक्षा एवं वाणिज्य, इन तीनोंकी स्वरूपसिद्धिके लिए कुछ साधन अपेक्षित होंगे। उन साधनोंमें पहला एवं मुख्य साधन है- " दोग्ध्री धेनुः। " राष्ट्रकी सबलताका मुख्य श्रेय गोवंशको ही है। जिस राष्ट्रका गोवंश निर्बल हो जाता है, उसका सर्वनाश निश्चित है। जैसा कि वर्तमानयुग सर्वनाशकी स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दूसरा साधन है- " वोढानड्वान्। " भारवाही बैल और उत्तम गोसन्ततिके उत्पादक सांड भी आवश्यक वस्तु हैं। तीसरा साधन है- " आशुः सप्तिः। " तेज दौडनेवाले घोडे। वाहनकर्मके सिवा कृषिकर्ममें भी इनका उपयोग होता है। अर्थबलका यही संक्षिप्त विवेचन है, अतः- " दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः " कहा है।

अब ऋषिका एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कामनाकी ओर ध्यान गया, जिसके बिना किसी भी वर्गका स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। वह कामना है- " पुरंधिर्योषा " पुरुषसमाजका आधार स्त्रीसमाज है। क्षेत्रकी योग्यताके तारतम्य पर ही बीजकी योग्यताका तारतम्य स्थित है। यदि राष्ट्र ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणोंकी, शूर क्षत्रियोंकी और अर्थशक्ति कुशल वैश्योंकी उत्पत्ति चाहता है तो उसका कर्तव्य होगा कि वह अपनी नारीशक्तिको सुरक्षित रक्खे। स्त्री जातिका अभ्युत्थान ही राष्ट्रोत्थानका मूलमन्त्र है। बिना शक्तिवर्गके पुरुष शव है- मुर्दा है।

अब यजमान (वैश्य)- वर्ग राष्ट्रके सामने आया, जो कि " अर्थसम्पत्तिका समाजमें यजन (मेल) किया करता है। " उसकी मुख्यशक्ति है- " सभेयः। " ब्राह्मण एकाकी रहकर भी ज्ञानशक्तिका संचय कर सकता है। क्षत्रिय भी समूहकी उपेक्षा कर क्षत्रबलसे सम्पन्न हो सकता है। परन्तु युवा यजमान (वैश्य) तबतक अर्थकुशल नहीं बन सकता, जबतक कि वह सभाप्रिय न बने। उसे हरएक व्यक्तिसे मिलते-जुलते रहना चाहिए। जनसमूहकी मनोवृत्तियोंका अध्ययन करते रहना चाहिए। सामयिक अर्थस्थितिका परिज्ञान इसी अध्ययन पर निर्भर है। कहाँ, कब, किस अर्थकी क्या स्थिति है ? इसके लिए सभेय (जनसंसर्ग) के सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि बनियेका बेटा ब्राह्मण-क्षत्रियकी तरह घरके कोनेमें बैठा रहेगा, देश-विदेश-भ्रमण एवं सब तरहकी व्यक्तियोंका संसर्ग न रक्खेगा तो वह कभी अर्थकुशल न बन सकेगा, अतः- " सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् " कहा है।

राष्ट्र अपनी इच्छासे जो कुछ कर सकता था, कर लिया। आधिभौतिक प्रपञ्चमें जहाँतक उसकी स्वतन्त्रता चल सकती थी, वहाँतक दौड लगा ली। परन्तु एक विभाग ऐसा रह गया जिसमें इसकी स्वतन्त्रता कोई काम नहीं कर सकती। यदि काम कर सकता है तो एक मात्र " धर्म " आधिदैविक मण्डलकी अनुकूलतामें ही राष्ट्रकी उक्त सारी कामनाएँ पूरी हो सकती हैं। मान लीजिए दो-चार वर्ष निरंतर प्रकृतिने वृष्टि न की, की तो इतनी की कि जिससे जल प्रलय हो गया, इस प्रकृतिदेवके शापसे बचना कठिन है। इससे बचनेका एकमात्र उपाय है- " प्रकृतिके अनुसार चलना। "

हम या हमारा राष्ट्र प्रकृतिका ही एक अवयव है। जिस प्रकार एक मिट्टीका ढेला अपने अंशीरूप पृथिवीमण्डलके आकर्षणसे नित्य आकर्षित रहता है, इसी प्रकार प्रकृतिका अंशभूत प्राणी प्रकृतिके आकर्षणसे नित्ययुक्त रहता है। इस आकर्षण समानतासे उसके धर्म हममें मिलते रहते हैं और हमारे धर्म उसमें मिलते रहते हैं। यदि हम उसके अनुकूल चलते रहते हैं, तो वह भी हमारे अनुकूल बनी रहती है। परस्परकी इस अनुकूल भावनासे प्रकृतिमण्डल शान्त रहता है। हम और हमारा राष्ट्र प्रकृति-कोपसे बचे रहते हैं- " परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। " 'आपसमें उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होवोगे।' (गीता ३।११)

हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य पर (इसके प्रज्ञापराधसे) उपदंश (गरमी) का आक्रमण हो जाता है तो जो-जो व्यक्ति इसके संसर्गमें आ जाते हैं, वे भी इस रोगके शिकार हो जाते हैं। बढते-बढते यह संक्रमण वहाँके प्रकृतिमण्डलको दूषित कर डालता है। वातावरण बिगड जाता है।

उस देशकी हवामें ही वे कीटाणु व्याप्त हो जाते हैं। महामारी (प्लेग), राजयक्ष्मा (क्षयरोग) आदि सांक्रामिक रोग तो प्रत्यक्ष ही प्रकृतिको दूषित करते देखे गये हैं। ये ही कुछ उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त प्रमाण है कि हमारा दोष संक्रमणभावके कारण आगे जाकर प्रकृतिमण्डलको दूषित करनेका कारण बन जाता है। यदि किसी राष्ट्रमें समय पर वृष्टि नहीं होती, ओषधिएँ फलवती नहीं बनतीं, रोगसे मानव-समाज दुःखी रहता है, बालवर्गकी अकालमृत्यु हो जाती है, तो हमें विश्वास करना चाहिए कि अवश्य ही हमने, हमारे राष्ट्रने, राष्ट्रसंचालकने या राष्ट्रके माननीय व्यक्तियोंने प्रकृति-विरुद्ध कर्म किया है। तत्काल प्रकृतिरहस्य-वेत्ता ब्राह्मणसे निदान कराना चाहिए और प्रकृति-क्षोभशान्तिके लिए शान्ति, तुष्टि और पुष्टि आदि चिकित्सा करनी चाहिए।

"प्रकृतिका जैसा स्वरूप है और प्रकृतिका जैसा नियम है, उन नियमोंका संग्रह ही वेदशास्त्र है। उस सनातनशास्त्रके वे सनातन प्राकृतिक नियम ही 'धर्म' है। वर्णाश्रमधर्म ही इस धर्मकी मौलिक व्याख्या है। यही गीताशास्त्रका वर्ण-भेदानुसार अधिकारी भेदसे नियत स्वधर्म है। स्वधर्मानुकूल कर्तव्यकर्ममें नियत रहना ही प्रकृतिके अनुकूल चलना है। जो राष्ट्र इस अनुकूलताका अनुगामी है, वही प्रकृतिसंयुक्त ब्रह्मसे- "**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्**" यह कहनेका अधिकार रख सकता है।

राष्ट्र इन सब साधनोंसे क्या चाहता है? इस प्रश्नका एक मात्र उत्तर है- "**योगः क्षेमो नः कल्पताम्।**"

राष्ट्र अपनी स्वरूपरक्षा करता हुआ योग चाहता है और क्षेम चाहता है। वैभवप्राप्ति योग है और प्राप्त वैभवका स्थिर रहना क्षेम है। इसके सिवा राष्ट्रकी माँग और क्या हो सकती है? तथा वैदिक साहित्यके सिवा राष्ट्रको इस योग-क्षेमकी सर्वोच्च पद्धति बतलानेवाला भी दूसरा कौन है?

गीताशास्त्र वेदानुयायी है, रामराज्य वेदका आदर्शराष्ट्र है और भागवतमें भी उक्त वेदमंत्रका विस्तृत अनुवाद रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र आदि राजर्षियोंके चरित्रोंमें हुआ है। वेदके उपर्युक्त एक ही मंत्रमें राष्ट्रके साध्य-साधन समाविष्ट हैं। इस मंत्रके "**निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**" 'समय-समय पर पर्जन्य वर्षा करता रहे' इसका साधन स्वकर्मयज्ञ है और साध्य राष्ट्रका योगक्षेम है। अतएव स्वकर्मयज्ञ ही वेदका श्रेष्ठतम कर्म है। इससे वृष्टि आदि इच्छित कामनाओंकी सिद्धि होती है। आजकल मनुष्योंको शुद्ध घी मिलना भी दुर्लभ है, ऐसे समयमें भी राष्ट्रके लिए वृष्टिकारक वैदिक स्वकर्मयज्ञ तो सुलभ ही है। यह वैदिक शाश्वतविज्ञानकी सर्वकालोपयोगी विशेषता है। इसे विवेकी सज्जन अपनावेंगे, मानवता लानेके लिए घर-घरमें प्रचार करेंगे एवं विश्वराष्ट्रमें शान्ति-संपादन करेंगे, यह आशा है।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

संसारपर विजय कौन प्राप्त कर सकता है ?

[लेखक— श्री भास्करानन्द शास्त्री, सिद्धान्त-वाचस्पति, प्रभाकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (गुजरात)]

[गताङ्कसे आगे]

(४) सम्यक् च गुरु सेवनात्

अच्छी प्रकारसे गुरुजनोंकी सेवा करनेसे मनुष्य विश्व-विजयी बनता है। 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' यह शतपथ ब्राह्मणका वचन है। वस्तुतः तीन उत्तम गुरु अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य जब मिलते हैं तभी मनुष्य ज्ञानवान्, बलवान्, यशस्वी और तेजस्वी बनता है। 'मातृमान्' अर्थात् 'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्।' धन्य वह माता है कि जो अपने बच्चेको जन्मसे लेकर बडे होनेतक विद्या सुशिक्षाका उपदेश करती रहती है। बालकका प्रथम गुरु माता है। सत्यार्थ प्रकाशके द्वितीय समुल्लासमें महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

" बालकोंको माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे संतान सभ्य हों और किसी अङ्गसे कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालककी जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्णका स्थान प्रयत्न अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठोंको मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अक्षरोंको ठीक ठीक बोलना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, पद वाक्य संहिता, अवसान, भिन्न भिन्न श्रवण होवे। जब वह कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बडे छोटे मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदिसे भाषण उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदिकी भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठित हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्सङ्गमें रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थक्रीडा, रोदन, हास्य, लडाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थमें लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। सदा सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्न वदन आदि गुणोंकी प्रीति जिस प्रकार हो करावें। जब पाँच, पाँच वर्षके लडका लडकी हों, तब देवनागरी अक्षरोंका अभ्यास करावें। अन्य देशीय भाषाओंके अक्षरोंका भी।

उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुंब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदिसे कैसे कैसे वर्तना इन बातोंके मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थ सहित कंठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्तके बहकानेमें न आवें। और जो जो विद्या धर्म विरुद्ध भ्रान्तिजालमें गिरानेवाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश कर दें जिससे भूतप्रेत आदि मिथ्या बातोंका विश्वास न हों। "

शास्त्रकारोंने माताका दर्जा सबसे श्रेष्ठ बताया है यथा—

उपाध्यायान् दशाचार्य, आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ मनु.

रामको मर्यादा पुरुषोत्तम राम, माता कौशल्याने ही बनाया। लक्ष्मणको श्रेष्ठ लक्ष्मण बनानेवाली माता सुमित्रा थीं। जब लक्ष्मण रामके साथ चौदह वर्षोंके लिये जंगलमें जाने लगे, अपनी पूज्य माताका आशीर्वाद लेने और चरण वन्दनाके निमित्त उनके पास गये उस समय माता सुमित्राने अपने प्रिय पुत्र लक्ष्मणको कितना उत्तम उपदेश दिया—

रामं दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यां अटवीं विद्धि, गच्छ तात यथासुखम् ॥
वा. रा. अयोध्या कांड

'हे पुत्र लक्ष्मण! रामको अपने पिता महाराजा दशरथके तुल्य समझना, जनक पुत्री सीताको मेरा ही रूप मानना, जंगलको अयोध्या जानना इस प्रकारकी धारणा बनाकरके जाओ सुखपूर्वक चौदह वर्षोंतक भाईके साथ जंगलमें निवास करो।' कितना उत्तम उपदेश था माता सुमित्राका अपने सुपुत्र लक्ष्मणके प्रति।

महाराजा छत्रपति शिवाजीको निर्माण करनेवाली माता जीजाबाई थीं। महाराजा शिवाजी भी किस प्रकार अपनी

माताकी आज्ञामें तत्पर रहते थे। एक बार माता जीजाबाईने किसी दूर स्थानसे सिंहगढके ऊपर यवनोंका ध्वज फहराते देखा, यह उनसे सहन न हो सका। पुत्र शिवाको बुलाकर कहा ' बेटा! सिंहगढपर पवित्र भगवा ध्वज लहराना चाहिये यवनोंका ध्वज मुझसे देखा नहीं जारहा है।' फिर क्या था, शिवाजीने अपने प्रधान सेनापति तानाजीको बुलाकर सिंहगढपर चढाई कर दी और सिंहगढको विजय कर और उस पर पवित्र भगवा ध्वज फहराकर उस गढकी चाभी लाकर माताजीके चरणोंमें अर्पित कर दी यह थी माता जीजाबाईके प्रति शिवाजीकी महान् श्रद्धा तभी वह इतने महान् बने।

दूसरा बालकको निर्माण करनेवाला पिता है। " पालयिता वा जनयिता स पिता " जो पालन करता वा उत्पन्न करता है वह पिता होता है। बालकको बनानेके सम्बन्धमें पिताकी बहुत बडी जिम्मेदारी होती है। गाण्डीवधारी वीरशिरोमणी अर्जुनको सब जानते ही हैं, उन्होंने अपने पुत्र अभिमन्युको चक्रव्यूहमें प्रवेश होनेकी विद्या जब वह अपनी माता सुभद्राके गर्भमें ही था सिखा दिया। उस अपने प्रिय पुत्र अभिमन्युको इतना महान् वीर बनाना अर्जुनका ही काम था।

हमारे राष्ट्रके महान् नेता, भारतके लोगोंके हृदय सम्राट्, विश्वके बहुत बडे राजनीतिज्ञ, मानवताके महान् समर्थक, स्वतन्त्रभारतके प्रधानमन्त्रीपदको सत्रह वर्षोंतक अलंकृत करनेवाले, भारतमाताके सबसे प्रिय और लाडले पुत्र जवाहर जिनके आकस्मिक निधनसे सम्पूर्ण भारत शोक सागरमें विमग्न हो गया है और सम्पूर्ण विश्व शोकाकुल हो उठा है, जो अनेक गुणोंके भण्डार थे। राजनीतिके प्रकाण्ड पण्डित थे, जिनके दर्शन करने और भाषण सुननेके लिये जनता उमड पडती थी। जिनका देश और विदेशमें समान रूपसे मान था।

इंगलैण्ड, फ्रान्स, रूस, अमेरिका, मिश्र और अरबके लोग जिनको अपना प्रधान हितैषी मानते थे। जिनके एक इशारे पर महान्से महान् बलिदान देशके हित देनेके लिये लोग उद्यत हो जाते थे। जो महान् परिश्रमी और अनथक कार्यकर्ता थे। जिनका नारा था ' आराम हराम है ' ' देशके लिये सतत परिश्रम करते रहो ' ऐसे महान् दिव्य, श्रेष्ठ जवाहरलालको भी निर्माण करनेवाले उनके पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू ही थे। स्वर्गीय पण्डित जवाहरलाल नेहरूके बचपनकी एक घटना है, जब वह करीब आठ वर्षकी अवस्थाके थे, अपने पिताजीके मेज परसे उनका एक फाउंटेनपेन (Fountain pen) उठा लिया और पूछने पर साफ इनकार कर दिये। पं. मोतीलालजी बडे ही दूरदर्शी, अनुभवी और मनुष्यको एक बार देखने मात्रसे पहचान लेते थे कि यह व्यक्ति किस प्रकारका है। उनके घरमें ऐश्वर्यकी कोई कमी नहीं थी उनका अपना इलाहाबाद (प्रयागराज) का आनन्दभवन आनन्दका केन्द्रस्थल था। अगर बालक जवाहर चाहते तो उनके पिता अपने प्यारे इकलौते पुत्रके लिये सौ फाउन्टेनपेनका प्रबन्ध कुछ ही समयमें कर सकते थे। लेकिन बालक जवाहरने गलती की, पिताजीसे बगैर पूछे चोरीसे पेनको चुरा लिया और पूछने पर साफ इनकार कर बैठे।

इस प्रकार इनके द्वारा दो अपराध हो गये एक चोरीका करना दूसरे झूठका बोलना। पं. मोतीलालजीने अच्छी प्रकार सोच समझकर और बालकके अन्दरसे उन बुराइयोंको निकालनेकी भावनासे प्रेरित होकर इतना पीटा और इतनी मार लगाई कि बालक जवाहरकी पीठ और शरीर मारसे लाल हो गया। कहते हैं ' मारके आगे भूत भी भाग जाता है।' जवाहर तो बालक ही थे और शायद इनके जीवनकी पहली और अन्तिम चोरी करनेकी घटनाथी। पिताजीके द्वारा पिटाई होनेपर बालकने मानलिया ओर कहा ' पिताजी मैंने आपका पेन उठाया है और आपके डरसे इनकार कर बैठा, क्षमा करें, अब ऐसी चोरी कभी भी नहीं करूँगा ' यह कहने पर बालककी जान बची। माता स्वरूपरानी उस अपने प्यारे पुत्र जवाहरकी कई दिनों तक दवादारू करती रहीं।

पं. मोतीलालजी बालक जवाहरको योग्य अध्यापक गुरुजनोंसे पढा लिखा और योग्य बनाकर अपने साथ लेकर इंग्लैण्ड गये और जवाहरलालको हैरोके स्कूलमें प्रविष्ट कराया। उस समय जवाहरलालकी अवस्था १५ वर्षकी थी। हैरोसे पढाई समाप्त कर कैम्ब्रिजके ट्रिनिटी कालेजमें भर्ती हुये और बैरिस्टर बनकर भारत लौटे। पुत्र जवाहरको बनानेमें पं. मोतीलालजीने लाखों रूपया खर्च किया। उनके गति विधिका पूरा पूरा ध्यान रखते रहे, तब कहीं जाकर पं. जवाहरलालजीको वह ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ जो किसी महान् व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। आज इनके आकस्मिक मृत्युपर

भारत ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वके लोग आँसू बहा रहे हैं, उनके महान् बलिदानों और सेवाओंको याद कर रहे हैं। अतः पिता हो तो पं. मोतीलालकी तरह जिन्होंने लाडन और ताडनका उचित और ठीक ढंगसे प्रयोग करके पुत्र जवाहरलालका निर्माण किया।

एक दूसरा उदाहरण— एक व्यक्ति तीन पुत्रोंका पिता था। उसने अपने प्रत्येक पुत्रको अलग अलग पाँच पाँच सौ रूपया दिया और प्रत्येकसे कहा इसको ले जाकर सदुपयोग करो, अगर आवश्यकता समझूँगा तो और दूँगा।

पहला— पाँच सौ रूपया रख लिया और दिनरात ' पिताजी, पिताजी, पिताजी··· ' के नामका जाप करने लगा।

दूसरा— व्यापार तो करने लगा लेकिन पिताजीको भूल गया।

तीसरा— नियत समय पर प्रतिदिन पिताका स्मरण करता और नियत समय पर व्यापार करता।

अन्तमें पहलेके पास जब १००) रह गया वह पिताके पास गया, पिताने उसके वह भी १००) छीन लिया और कहा ' तू योग्य नहीं। '

दूसरा कुछ दिन व्यापार करता रहा किन्तु एक दिन जुवारियोंके संगतमें पड गया और सब गँवा दिया। जब पिताके पास पहुँचा उस समय पिताने उसे दण्ड देकर विदा किया और कहा ' तू दुर्व्यसनी और महामूर्ख है। '

तीसरेने पिताके ५००) का १०००) रूपया बनाकर पिताके श्री चरणोंमें अर्पण किया, पिताने प्रसन्न होकर १०००) और दिया और कहा, ' वास्तवमें तू मेरा योग्य पुत्र है। ' अतः पिता हो तो ऐसा हो।

तीसरा बालकको निर्माण करनेवाला है गुरु (आचार्य)। प्राचीन समयमें गुरु अपने शिष्यको उपदेश देता था—

" सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि······"

तैत्तिरीय उपनिषद् प्रपा० ७ अनु० ११

उस समयमें ऋषियोंके कुल (गुरुकुल) में ही ब्रह्मचारी विद्यार्थीका निर्माण होता था। वहींसे वसु, रुद्र और आदित्य संज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मचारी निकलते थे। जैसे— सनत्कुमारके गुरुकुलसे नारद, यमाचार्यके गुरुकुलसे नचिकेता, पिप्पलादके आश्रमसे सत्यकाम, बृहस्पतिके गुरुकुलसे इन्द्र, महर्षि वशिष्ठके गुरुकुलसे रामचन्द्र, परशुरामके गुरुकुलसे भीष्म और सन्दीपन ऋषिके गुरुकुलसे कृष्ण और सुदामा स्नातक बनकर निकले थे। गुरुकुलोंमें रहकर विद्यार्थी ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करते हुये विद्या अध्ययन करते थे। उनका जीवन सादा और संयमी होता था। वह अपार श्रद्धा और भक्तिसे गुरुजनोंकी सेवा करते थे। गुरुजन भी विद्यार्थीयोंको अपने पुत्रकी ही तरह अपने पास रखते थे। और जब विद्यार्थीकी शिक्षा पूरी हो जाती थी तब स्नातक बना कर अपने पाससे विदा करते थे।

छत्रपति महाराजा शिवाजीका भी निर्माण गुरु रामदासजीने ही किया। जब शिवाजी अपने महान् पराकमसे महाराजा बन गये, उस समय गुरु समर्थ रामदासजीके मनमें एक विचार आया कि ' देखूँ शिवाकी मेरे प्रति श्रद्धा है अथवा नहीं। ' स्वामीजी एक जंगलमें कुटिया बना कर रहते थे। एक दिन वे बीमार बन कर बिस्तरे पर लेट गये। फिर क्या था उनके बहुतसे शिष्य उनकी सेवा करनेके लिये आने लगे। स्वामीजीके बीमारीकी खबर महाराजा शिवाजी तक पहुँची, वह गुरुदेवजीके बीमार होनेका समाचार सुन कर अत्यन्त चिन्तित हुये, और घोडे पर सवार होकर स्वामीजीके दर्शनार्थ चल पडे। जंगलों और पहाडोंको पार करते हुये कई घन्टे पश्चात् स्वामीजीकी कुटिया पर पहुँचे। घोडेसे उतरकर घोडेको एक वृक्षमें बाँधकर और जूतेको भी कुटियाके बाहर ही निकाल कर बडी श्रद्धा भक्तिके साथ स्वामीजीकी कुटियाके अन्दर प्रविष्ट हुये। देखा स्वामीजी महाराज शान्तचित्तसे बिस्तरे पर लेटे हुये हैं। शिवाजीने दोनों हाथोंसे गुरुदेवके चरण स्पर्श करते हुये प्रणाम किया और हाथ जोडकर खडे हो गये, बोले— " स्वामीजी महाराज ! आज्ञा करें मेरे योग्य क्या सेवा है ? "

स्वामिजी बोले— " शिवा ! अब मैं थोडे ही समयमें इस संसारसे कूच करनेवाला हूँ, इस अन्तिम समयमें तुम आ गये यह अच्छा ही हुआ, देखो इस मेरे दाहिने जंघेमें एक बहुत बडा जहरीला फोडा हो गया है, पीप (मवाद) से भर गया है, अत्यन्त वेदना हो रही है अब बचनेकी कोई आशा नहीं है। "

शिवाजीने पूछा— " स्वामीजी ! इसका कोई इलाज, बन्दोबस्त, उपाय भी है अथवा नहीं ? "

स्वामीजी— " शिवा ! इसका एक ही उपाय है, जो कोई इस पके हुये फोडेमें मुँह लगाकर एक ही साँसमें इसके मवादको जोरसे खींच कर पीलेतो मैं बच सकता हूँ लेकिन वह पीनेवाला मर जायेगा इस कारण मैं किसीको ऐसा करनेकी आज्ञा नहीं दे सकता। "

शिवाजी बोले— " गुरुदेव ! मुझे आज्ञा करें मैं इस जहरीले मवादको एक ही साँसमें पीनेके लिये उद्यत हूँ। आपके अमूल्य जीवनकी रक्षा करना शिष्यका परम धर्म है। "

स्वामीजी— " पुत्र ! ऐसा नहीं हो सकता तुम महाराजा हो अभी तुम्हारी बडी ही आवश्यकता। तुम्हारे बिना राज्यका कार्य कैसे चलेगा ? "

शिवाजी— गुरुदेव ! मेरे मरनेसे कोई बडा नुकसान नहीं होगा। आप मेरे ऐसे दूसरे शिवाका निर्माण कर सकते हैं अतः मुझे शीघ्र आज्ञा प्रदान करें। यह मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात होगी।

स्वामीजी— अगर तुम्हारी यही इच्छा है, तो इस फोडेमें मुँह लगाकर एक ही साँससे जोरसे खींचकर इसके मवादको पी जाओ।

शिवाजी पके फोडेमें मुँहलगाकर एक ही साँसमें उसके सब मवादको पी जाते हैं।

स्वामीजी महाराज विस्तरेसे उठकर खडे हो जाते हैं और शिवाको हृदयसे लगा लेते हैं। और कहते हैं—

" पुत्र शिवा ! तू परीक्षामें आज उत्तीर्ण हो गया है। यह तेरी बहुत बडी परीक्षा थी, अब तुझको संसारमें कोई भी पराजित नहीं कर सकता है तू विश्वविजेता बनेगा। "

शिवाजी— आपके फोडेके पीपमें एक अलौकिक मीठा स्वाद आया है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।

स्वामीजी— पुत्र ! मैंने तुम्हारी परीक्षाके लिये यह प्रपंच किया था। और एक बहुत बडा पका घुला हुआ रसपूर्ण आमका मीठा स्वादु फल बाँध रखा था, वह फोडेका मवाद नहीं था बल्कि पके हुये आमका स्वादिष्ट रस था।

शिवाजी हँस पडते हैं और कहते हैं " स्वामीजी आपने अच्छी परीक्षा ली। " 'अतः सम्यक् च गुरु सेवनात्' इस कार्यके द्वारा मनुष्य संसार पर विजय प्राप्त करनेवाला बनता है। [क्रमशः]

संस्कारोंके सहकारी विधायक अङ्ग

लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी

संस्कार विविध तत्वोंको अपने आपमें अन्तर्निहित किये हुए हैं। उनमें जन सामान्यके सहज विश्वासों–भावनाओं, मानव स्वभावकी परख आदि अनेकानेक दिव्यतत्व स्पष्टतः नजर आते हैं, उनके जीवनसे सम्बन्धित सम्बन्धको सूचित करते हैं।

अति प्राचीनकालसे हिन्दुओंका विश्वास रहा है कि मनुष्यके लिए सुरक्षा, पवित्रता एवं परिष्कार अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य अंग है। इसके लिए वे अधिकतर देवताओं पर आश्रित रह कर उनके अस्तित्वका अनुभव करते एवं उनसे सहायता करनेके लिए प्रार्थनाएं किया करते थे। इन्हीं प्रार्थनाक्रमोंमें कई विधायक अंगोंका उपयोग हुआ करता था। जिनका अपना अपना महत्व है। जो इस प्रकारसे हैं–

(१) अग्नि

अग्नि हमारे दैनिक जीवनका एक प्रमुख अंग है। जिसका संस्कारोंमें प्रथम एवं स्थायी अंगके रूपमें विकास हुआ है। भारत–ईरानीयकालसे ही प्रमुख गृहदेवताके रूपमें इसकी पूजा सर्वत्र की जाती रही है। जिस प्रकारसे ऋग्वेदमें इसे गृहपतिके रूपमें स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार अवेस्तामें [१] अतर (Atar = अग्नि) को सम्पूर्ण गृहोंका गृहपति माना गया है।

अग्नितत्व अतिप्राचीनकालसे सर्दीसे रक्षा कर मानवको गर्मी प्रदान करनेके कारण, तथा गृहस्थके लौकिक एवं धार्मिक जीवनमें सहायता प्रदान करनेसे यह जन जीवनमें देवस्वरूप पूज्य एवं श्रद्धा–पात्र बन गया है। न केवल भारतीय समाजमें वरन रोमवासियों एवं यूनानियोंमें भी अग्नि धार्मिक विश्वास एवं धर्मकृत्योंकी केन्द्र बिन्दु रही है। पारसियोंमें आज भी 'अग्नि' को देवतत्व प्राप्त है।

हमें संस्कारोंमें अग्निके विधायकत्वके महत्वका मूल्यांकन करना है। अतः इसके लिए यह जानकारी आवश्यक है कि वैदिककालमें भारतीय जनताके इसके विषयमें सहज विश्वास क्या थे। यह देखने पर पता चलता है कि दैनिक जीवनमें इसकी व्यवहारिक उपयोगिताके कारण इसे प्रमुखतः गृहपतिकी संज्ञा दी गई है। हमारी सांस्कृतिक धरोहर वैदिक एवं तदनुगामी वाङ्मयमें इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ—

'अपना कार्य करता हुआ अग्नि इन पार्थिव गृहोंमें निवास करता है। यद्यपि यह देव है, तथापि उसे मर्त्यलोकका साहचर्य प्राप्त है।' [२]

'वह पञ्चजनों' में समानरूपसे सम्मानित है और वह उनके प्रत्येक घरमें विद्यमान है, वह कवि है, वह युवा है, वह गृहपति है। [३]

इस प्रकार यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट ही हो जाती है कि लोगोंका आम विश्वास था कि अग्निदेव रोग, राक्षसों एवं अन्यान्य अमंगलतत्वोंसे सामान्यतः रक्षा करनेमें समर्थ है। अतः विविध संस्कारोंके करते समय अग्निदेवकी आराधना की जाती थी और अक्सर उन्हें बहुमानित स्थान प्रदान किया

---

[१] यस्न, १७–११

[२] "स चेतयन्मनुषो यज्ञबन्धुः प्र तं मह्या रशनया नयन्ति।
स क्षेत्यस्य दुर्यासु साधन्देवो मर्तस्य सधनित्वमाप" (ऋग्वेद ४।१।९)

[३] यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे। कविर्गृहपतिर्युवा॥ (ऋग्वेद ७।१५।२)

जाता रहता था। इसके मूलमें यह बात भी निहित है कि संस्कारोंका एक उद्देश्य अशुभ प्रभावोंसे संस्कारित प्राणीकी रक्षा करनी भी रहता है। इसी दृष्टिसे अग्नि–उपासना करनेके संकेत भी किये गए हैं। यथा—

' यज्ञमें सत्यधर्मा अग्निकी उपासना करनी चाहिए। वह रोगोंका नाश करता है।' [१]

परन्तु प्राचीनकालमें अग्नितत्व केवल गृहपति अथवा रक्षकके रूपमें ही पूज्य नहीं रहा था, वरन् वह मान्य पुरोहित, देवताओं तथा मनुष्योंके बीच मध्यस्थ और सन्देशवाहक भी था। आदर्श पुरोहितके नाते वह संस्कारोंका निरीक्षण भी किया करता था और देवताओं तथा मनुष्योंके बीच मध्यस्थ प्राणी होने तथा सन्देशवाहक होनेके कारण वह देवोंको हवि भी पहुंचाता रहता था। देखिये—

' हे अग्ने ! तुम पुरोहित हो, यज्ञिय देव हो, ऋत्विक हो, तुम होता हो, श्रेष्ठतम रत्नोंको देनेवाले हो। मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ।' [२]

' तुम देवोंके मुख्य स्थानीय हो, अतः मैं तुम्हारे माध्यमसे निर्दोष, अमर देवोंकी स्तुति करता हूं।' तुम उनके लिए हुत हविको ग्रहण करते हो। [३]

' हे अग्ने, तुम हमारे इस नूतन और शक्तिसम्पन्न गायत्रका देवताओंके मध्य उच्चारण करो।' [४]

' अग्नि हव्यको द्युलोकमें पहुंचा देता है।' [५]

' वह होता है, वह सन्देशवाहकके कार्यसे परिचित है, वह पृथिवी और द्युलोकके बीच आता–जाता है, वह द्युलोकके मार्गको भलीभांति जानता है।'

परन्तु कालान्तरमें अशिक्षाके प्रवाहके कारण देवताओं तथा मनुष्योंके मध्यस्थ अग्नि तथा सन्देशवाहक अग्निरूप मिटतासा गया और पुरोहित स्वरूप भी कम होगया, पर उसका स्वरूप अभी अवशेष है। इधर श्रद्धालु जगत्में उसके ' देवतत्व ' का अधिकाधिक विकास हुआ जो युगोंसे समान श्रद्धापात्रके रूपमें केन्द्रित है।

अग्निको हमारे समाजमें धार्मिक कृत्योंके निर्देशक एवं नैतिक विधानके संरक्षकके रूपमें भी पर्याप्त मान्यता रही है। इसी कारण किसी भी धार्मिक कृत्यका अनुष्ठान तथा अनुबन्ध किसी प्रकारके समझौतेमें प्रवेश अग्निके माध्यमसे किया जाता था। इसे सत्य सनातन साक्षी माना जाता रहा है। हमारे यहां आज भी उपनयन संस्कार, विवाह संस्कार आदिके अवसर पर ब्रह्मचारी एवं पति–पत्नी उसकी परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार ये संस्कार सही स्वरूपमें वैध एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं।

' मैं विशों (जनों) के राजा, धार्मिक कृत्योंके अनुपम अधिष्ठान इस अग्निकी स्तुति करता हूं। वह मेरी प्रार्थना सुने। [६]

' अध्वरों (यज्ञों) के राजा, ऋत्के संरक्षक, प्रज्ज्वलित तथा वेदीमें वृद्धिको प्राप्त हुए (अग्निकी स्तुति करता हूँ)। [७]

इसी प्रकारसे मृतकके अन्त्येष्टि संस्कारके समय भी अन्त्येष्टि संस्कारका यजमान अथवा कर्ता अग्निकी परिक्रमा करता है ! जो उसके प्रति पूज्य भावका परिचायक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अति प्राचीनकालसे हमारे यहां अग्निकी प्रतिष्ठा देवतत्वके रूपमें रही है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामने सीता पावकको सोंपी थी, सुग्रीवसे मित्रता अग्निकी साक्षीमें ली थी, वही इतिहास प्रसिद्ध सतियोंकी जौहर लीलाएं भी अग्नि देवकी गोदमें ही हुई हैं।

आज हमारे जीवन यापनके विविध उपकरणोंमें अग्निका प्रमुख अंग है। ऐसे उपयोगी तत्वके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन अत्यन्त आवश्यकसा ही है, इसी कारण हमारे यहां उसे ' देवतत्व ' के रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है, एवं मंगलमय अवसरोंसे लेकर शोकके अवसरोंतकमें भी उसे कभी नहीं भूला गया है। यही कारण है कि यह आज भी संस्कारों का प्रधान विधायक अंग है।

(२) अभिसिंचन

अभिसिंचन संस्कारोंका एक प्रमुख अंग है। जिसके अन्तर्गत स्नान, आचमन और व्यक्तियोंका जलसे अभिसिंचन किया जाता है। इन कृत्योंके पीछे कई वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपे हुये हैं। जन मनमें यह सहज

---

[१] कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीव चातनम् ॥ (ऋग्वेद १।१२।७)

[२] ऋग्वेद १–१–१; [३] ऋग्वेद २।१।१३; [४] ऋग्वेद १–२७–४; [५] ऋग्वेद १०।८०।४

[६] ऋग्वेद ८।४३।२४; [७] ऋग्वेद १।१।८

विश्वास जमा हुआ था कि स्नानसे सभी प्रकारके आधि-भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अशौच व्याधियां एवं अनेक रोगोंका निवारण हो जाता है। वैसे भी औपचारिक शुद्धि सभी संस्कारोंकी एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है। आचमन, अभिषेक जलप्रसेचन एवं अभिसिंचन आंशिक अथवा प्रतीक स्नानके रूपमें हमारे समक्ष हैं।

विश्वका ब्रह्मवादी सिद्धान्त संसारके प्रायः समस्त प्राचीन धर्मों एवं दर्शनोंके मूलमें निहित रहा है। इसी कारण जलको भी चेतन समझा जाता था और जहां तक वह विकास की प्रक्रिया तथा अन्य प्रकारसे मनुष्यको सहायता पहुंचाता, शुभ माना जाता था। [१] इसके साथ ही जलको गति, ध्वनि एवं शक्ति स्रोतके कारण भी सजीवतत्व माना जाता रहा है। सामान्य जगत्में उसके प्रति देव बुद्धि है, इसी कारण प्रत्येक अच्छे अवसर पर उसे वरुण देवके रूपमें याद किया जाता है, उसकी षोडशोपचारसे पूजा अर्चना की जाती है, उसका विविध रूपोंमें प्रयोग किया जाता है।

डा० राजबली पाण्डेयके अनुसार-- 'क्योंकि स्वभावतः ही उसे इसकी शीतल धारामें स्नान कर शुद्धि एवं ताजगी का अनुभव होता था। जलके सम्बन्धमें उसकी अन्य धारणाएं भी थीं। अनेक स्रोते, नहरें कुएँ तथा नदियां विस्मय-जनक आरोग्यकारी जलसे युक्त थीं, अतः यह समझा जाता था कि उनमें कोई दिव्य शक्ति निहित है। [२]

जनसाधारणकी यह धारणा भी निरंतर पुष्ट होती गई कि जलमें अशुभ प्रभावोंके निवारण करनेकी क्षमता है। भूत पिशाचोंके विनाश करनेकी क्षमता हैं। [३] जल ही परमौषधि है, जल रोगोंका दुश्मन है, यह सभी रोगोंको दूर करता है, इसीलिए यह तुम्हारे सब रोगोंको दूर करे। [४] यह भावना भी निरन्तर पुष्ट भी होती गई।

वेदोंमें जलको अमृत, औषधि एवं नाना प्रकारके दिव्य तत्वोंवाला घोषित किया गया है, एवं उससे विविध प्रयोजनोंको पूर्तिके लिए पर्याप्त मात्रामें प्रार्थनाएं की गई हैं। जो यहां उद्धृत करना सम्भव नहीं है। क्योंकि हमें यहां पर केवल संस्कारोंके विधायक तत्वके स्वरूपमें अभिसिंचनके अन्तर्गत जलके महत्वको ही देखना मात्र है।

हिन्दूधर्मावलम्बी माताके गर्भमें प्रविष्ट होनेसे मृत्युपर्यंत और यहां तक कि उसके पश्चात् भी नियमित रूपसे जलसे शुद्ध जीवन यापन करते थे और इसे अपना अहोभाग्य समझते रहे हैं।

संस्कारोंके सभी समापन कृत्योंमें जलका उपयोग स्नान, आचमन, अभिषेक, अभिसिंचन आदिके द्वारा किया जाता रहा है। यदि हम संस्कार्य कार्योंमें देखें तो निम्न स्वरूपोंमें हमें अभिसिंचनकी विविध प्रक्रियाओंकी स्पष्ट झलक मिलती है--

गर्भाधान संस्कारमें गर्भाधानकी प्रक्रियाके पश्चात् पिताको अनिवार्यरूपसे स्नान करना पडता था। [५] जो कि निश्चित रूपसे पुनः शारीरिक एवं आत्मिक शुद्धिका परिचायक रहता है। ठीक इसी प्रकारसे जातकर्म [६] संस्कारमें भी स्नान अत्यन्त आवश्यक था। इसी क्रममें चूडाकर्म संस्कार तथा उपनयन संस्कारोंके पूर्व भी स्नान करना अत्यन्त आवश्यक था। [७]

चूडाकर्म संस्कारके अवसर पर बालकके सिरको जलसे अभिषिक्त किया जाता था। यश, श्री, विद्या एवं ब्रह्मचर्यकी

---

[१] इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग १, पृष्ठ ३६७

[२] हिन्दू संस्कार पृष्ठ ४७

[३] ऋग्वेद ७।४७।४९ एवं १०।९।३०

[४] आपो इद्वाउ भेषजोरापो अमीव चातनाः।
आपः सर्वस्य भषजोस्तास्तु कृरावन्तु भेषजम्॥

[५] ऋतौ तु गर्भ शंकित्वात् स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।

[६] श्रुत्वा जातं पिता पुत्रं सचैलं स्नानमाचरेत्।

[७] माता कुमारमादायाप्लाव्य। (आ. गृ. सू. ११७

भावनाके लिए जलसे स्नातकका अभिषेक किया जाता ही रहा है। [१] इसी प्रकारसे स्वास्थ्य, सुख, शांति और उसकी पूर्तिके लिए वधूके सिरको अभिषित किया जाता है। [२]

ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी) जीवनकी समाप्ति हो जाने पर, गृहस्थाश्रममें प्रवेशकालमें भी स्नान अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता रहा है। [३] विवाह संस्कारके अवसर पर वर-वधूको वैवाहिक कृत्योंके पूर्व शुद्धि हेतु स्नान करवाया जाता था। [४] इसी प्रकारसे अन्त्येष्टि संस्कारके पूर्व मृतकके शरीरको चितामें रखने ले जानेसे पूर्व पानीसे धोया जाता है। [५]

इसी प्रकार प्रत्येक शुभ कार्य, त्यौहार, व्रत और यहां तक की प्रतिदिन स्नान, पूजन, संध्या वन्दनमें आचमन, अभिसिंचन किया जाता है, उस प्रकार हम देखते हैं कि अभिसिंचन संस्कारोंकी एक सामान्य विशेषता है। जिसके पीछे आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धिकी भावनाकी मनोवैज्ञानिक तथ्यता स्पष्ट है। जिसके औचित्यको कभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

(३) प्रार्थनाएं

प्रार्थनाएं हमारे सामान्य जीवनका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। जिसकी वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० एलेक्सिस केरलने इन शब्दोंमें व्याख्या की हैं—

'प्रार्थनासे विचित्र क्रियाएं सूक्ष्माकाशमें होने लगती हैं, जिससे अनेक प्रकारके चमत्कार हो जाते हैं। चमत्कार लानेके लिए एकमात्र उपाय 'प्रार्थना' ही है।' [६] परन्तु श्री टायलरके अनुसार- 'स्तुति चाहे व्यक्त हो अथवा अव्यक्त, आत्माकी निष्कपट इच्छा है, वह एक हृदयका दूसरे हृदयको सम्बोधन है।' [७]

संस्कारोंके अवसर पर परिवारकी रक्षा, समृद्धि एवं सुख संवर्धनके लिए प्रार्थनाएं की जाती थी, जिनमें सन्तति, पशु, धन, शांति आदिकी प्राप्तिके लिए याचना रहा करती हैं। प्रारम्भमें ये प्रार्थनाएं मानवकी वैयक्तिक इच्छा एवं पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत स्वार्थतक ही सीमित रहती थी। परन्तु कालान्तरमें इनकी भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुरूप ही बदलती गई।

संस्कारोंमें प्रार्थनाके स्वरूपमें याचनाका ही प्राधान्य है। उदाहरणार्थ—

उपनयन संस्कारमें बौद्धिक चेतना, पवित्रता, ब्रह्मचर्य रक्षण एवं ऊर्जस्विताकी कामना करते हुए प्रार्थनाएं की जाती हैं। प्रसिद्ध, पवित्र वेदमंत्र एवं अनादि गुरुमंत्र गायत्रीमें कहा गया है कि 'हम स्रष्टा (सूर्य) देवके वरणीय तेजका आराधन करें, वह ईश्वर हमारी बुद्धिको सन्मार्गमें प्रेरित करे।' [८]

आहुति यज्ञ भगवान्को अर्पण करते हुए विद्यार्थी प्रार्थनाके स्वरोंमें अपनी कामना इन शब्दोंमें व्यक्त करता है- 'हे अग्ने! मुझे अन्तर्दृष्टि प्रदान करो, स्मरणशक्ति प्रदान करो, मुझे गौरवशाली बनाओ, मुझे तेजस्वी और दीप्तिमान बनाओ।' [९]

ब्रह्मचारी अपने कटिप्रदेशमें मेखलाको बांधते हुए कहता है। वह भी प्रार्थनाका ही स्वरूप अन्तर्निहित किये है— "देवताओंकी भगिनी स्वरूप कीर्तिमती यह मेखला अपशब्दों (दुरुक्त) का निवारण करती है, यह मेरे वर्णको पवित्र और शुद्ध रखती है, अतः मैं इसे अपने कटिप्रदेशके चारों ओर बांधता हूँ, यह प्राण और अपान वायुको बल और शक्ति प्रदान करती है। [१०]

इसी प्रकार विवाहके समय वधूके साथ ही साथ सप्तपदी करता हुआ वर विष्णुसे प्रार्थना करता था कि पहला पग इषके लिए, दूसरा ऊर्जके लिए, तीसरा समृद्धिके लिए, चौथा

[१] तेनमामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसे। (पा. गृ. सू. २।६।९)

[२] पा. गृ. सू. १।८।५; [३] गो. गृ. सू. ३।४।६ तथा पा. गृ. सू. २।६; [४] गो. गृ. सू. २।१।१०-१७; [५] बौ. पि. सू.

[६] लेखकके लेख 'प्रार्थनाकी उपेक्षा त्यागें।' युगसाधना १५ सितम्बर ६३, पृष्ठ १८ कालम २ पर उद्धृत।

[७] प्रिमिण्टिव कल्चर, भाग १, पृष्ठ ३६४

[८] तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

[९] आ. गृ. सू. १।२२।१

[१०] इदं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥ (पा. गृ. सू. २।२।२)

सुखी जीवनके लिए, पांचवा पशुओंके लिए और छठा ऋतुओंके लिए तथा सातवा पग पत्नी और पतिको मैत्रीके बन्धनमें बांधनेमें समर्थ हो। [१]

इस प्रकार प्रार्थनाओंमें लौकिक वस्तुओंकी एवं नैतिकता दोनोंकी ही याचनाके स्वर स्पष्ट आभासित होते हैं।

परन्तु अत्यन्त खेदका विषय है कि आजका पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रभावित मानव इसे केवल ढोंग मानता जा रहा है। दिन प्रतिदिन प्रार्थनाके प्रति उपेक्षामय वातावरणकी सृष्टि बढती जा रही है। ऐसे अंग्रेजी लोगोंको महाकवि टेनीसनकी यह राय जीवनमें उतार लेनी चाहिए—

"बिना प्रार्थनाके मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों जैसा निर्बोध है। प्रार्थना जैसी महाशक्तिसे काम न लेकर अपनी थोथी शानमें रहकर सचमुच हम बडी ही मूर्खता करते हैं। वास्तवमें प्रार्थना तो परमेश्वरसे वार्तालाप करनेकी आध्यात्मिक प्रणाली है। जिस महाशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न है तथा लालित पालित हो रहा है, उससे सम्बन्ध स्थापित करनेका सरल एवं सच्चा मार्ग प्रार्थना ही है। भक्त परमानन्द स्वरूप परमात्मासे प्रार्थनाके सुकोमल तारों द्वारा ही सम्बन्ध जोडता है।" [२]

(४) यज्ञ

यज्ञ भारतीय संस्कृतिका जनक एवं संस्कारोंकी प्रक्रियाओंका एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग है। इसके उद्भव एवं विकासमें भी उन्हीं मानवीय विश्वासोंका प्राधान्य रहा है, जिनका प्रार्थनासे रहा है। अपने विकासमें ये प्रायः एक दूसरेसे घनिष्ट सम्बन्ध रखे रहे हैं।

सामान्य जनताका विश्वास था कि मनुष्योंके समान ही देवताओंको भी प्रशंसा एवं प्रार्थनाके द्वारा प्रसन्न कर अपना काम निकाला जा सकता है। उनकी यह धारणा भी स्पष्ट एवं स्वाभाविक थी कि मनुष्योंके समान वे भी किन्हीं अभिष्ट उपहारोंको स्वीकार करें। इसी दृष्टिसे यज्ञोंका महत्व बढा और वह यहां तक बढा कि मानवताके सर्वांगीण विकासमें उसने अपना महत्वपूर्ण अभिनय पूर्ण किया। वैदिक ऋषियोंने तो इस क्रममें यहांतक कहा है कि जो यज्ञको त्यागता है, उसे परमात्मा त्याग देता है। [३] इसी प्रकार यज्ञ करनेसे शत्रु नाश होनेकी भावनाएं भी काफी प्रबल थीं। [४]

सभी संस्कारों तथा मनुष्य जीवनके उत्साह व विकास एवं हर्षके अवसरों पर यज्ञ सम्पन्न किये जाते रहे हैं। जिसके अन्तर्गत देवताओंके प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए आहुति प्रदान की जाती थी। ऋषियोंने इसीलिए अपनी सन्तानोंको स्पष्ट निर्देश दिया था, कि प्रत्येक शुभ कार्य यज्ञके साथ प्रारम्भ करो। [५] इसके साथ ही साथ यज्ञोंके माध्यमसे उन्होंने सांस्कृतिक एवं भावनात्मक एकताके उद्देश्यकी पूर्तिका भी अनुमान लगाया था। अतः उन्होंने कहा था कि सबको मिलकर यज्ञानुष्ठान करना चाहिए। [६]

संस्कारोंमें लोगोंकी यह धारणा भी शनैः शनैः बढती ही गई कि जीवनके किसी भाग विशेषतक किसी देवता विशेषका प्रभुत्व रहता है। अतः इसे विशेष रूपसे आमंत्रित किया जाता है, विविध उपकरणोंसे उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। विविध मन्त्रोंसे उनकी प्रार्थना करते हुए आहुतियां दी जाती हैं।

यज्ञ कई अमूल्य शिक्षाओंका माध्यम भी रहा है। [७] यज्ञमय जीवनकी प्रेरणाएं भारतीय जीवनका एक प्रमुख अंग सदैव ले रही है। यही प्रमुख कारण है कि हमारी श्रद्धा यज्ञके प्रति अदम्य है।

(५) आशीर्वचन

संस्कारोंके अनुष्ठानोंमें आशीर्वचन अथवा आशीर्वादोंका भी महत्वपूर्ण स्थान है। ये आशीर्वचन प्रार्थनाओंसे इस

[१] पा. गृ. सू. १।८।१ तथा आ. गृ. सू. १।१९।९

[२] लेखककी पुस्तक 'प्रार्थनाका महत्व' पृष्ठ १० पर अंग्रेजीसे अनुदित।

[३] कस्मैः त्वं विमुञ्चति तस्मै त्वं विमुञ्चति। (यजुर्वेद)

[४] अग्निहोत्रिणे प्रणुदे सपत्नान्। (अथर्व. ९।२।६)

[५] प्राचं यज्ञं प्रणतया स्वसाय। (ऋग्वेद १०।१०१।२)

[६] सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत। (अथर्व. ३।३०।६)

[७] गायत्री यज्ञ विधान १ प्रथम भाग (पं. श्रीरामशर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित)

अर्थमें भिन्न थे, कि प्रार्थना अपनी वैयक्तिक हित सिद्धिके लिए की जाती थी, पर आशीर्वचनमें परहितकी उदात्त भावनाएं निहित एवं मुखरित होती रहती हैं।

जन साधारणमें यह सहज विश्वास जमा हुआ है कि उनको प्राप्त आशीर्वचनोंका अत्यन्त शुभ परिणाम होगा। संस्कार्य व्यक्ति पर इनका अभीष्ट प्रभाव भी पडता रहेगा। इसी दृष्टिसे आशीर्वचनोंमें सदैव ही शुभ भावनाओंका प्राधान्य रहा है। डा० रामचरण महेन्द्रके अनुसार आशीर्वादसे मनमें एक गुप्त आदर्श भावना छा जाती है। फलस्वरूप बाह्य वातावरण भी उसीके अनुरूप बनने लग जाता है। [१] आदर्श कामनाएं करनेका उद्देश्य भी यही था।

देखिए पतिपत्नीको अधोवस्त्र भेंट करता हुआ कहता था— 'तुम दीर्घायु होओ, यह अधोवस्त्र धारण करो, अभिशापोंसे परिवारकी रक्षा करो, सौ शरद ऋतु पर्यन्त (शतायु) वर्चस् सहित जीवित रहो, वैभव तथा संततिसे समृद्ध रहो, दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिए यह वस्त्र पहनो। [२]

इसी प्रकार जातकर्म संस्कारके अवसरपर पिता अपने पुत्रको आशीर्वाद देते हुए कहता था– 'तू प्रस्तरखण्ड व फरसेके समान दृढ एवं बलवान् बन, स्वर्णके समान देदीप्यमान व दीर्घजीवी हो। तू यथार्थमें पुत्ररूपमें उत्पन्न मेरी आत्मा है, अतः तू सौ शरदऋतु पर्यन्त जीवित रह।' [३]

प्रत्येक संस्कार पर पुरोहित, वयोवृद्ध सज्जन एवं माताएं बहिनें इसी प्रकारकी अनेक अर्थोंवाली शुभ कामनाएं करती रहती हैं। जिनके पीछे वही गुप्त मनमें उदात्त भावनाएं जमानेकी धारणाका प्राधान्य स्पष्ट रूपसे झलकता है।

(६) प्रतीकत्वकी धारणाएं

हिन्दू संस्कारोंमें प्रतीकवादकी धारणाओंका भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जिसके पीछे मनोधारणा एवं विश्वास ही अधिकतम नजर आता है। इनका प्रयोजन मानसिक एवं आध्यात्मिक गुणोंकी प्राप्ति ही रहा था।

जन सामान्यमें यह विश्वास घर कर चुका है कि विविध प्रतीकोंके माध्यमसे उनमें उसीके अनुरूप गुणोंका संचार किया जा सकता है। देव–मूर्ति पूजन भी यही उद्देश्य रखता है, आजकल चित्र पूजन भी। पत्थर दृढताका प्रतीक था इस लिए यह धारणा की जाती थी, कि जो इसपर आरूढ होगा, उसमें भी उसी प्रकारकी कठोरता एवं दृढता आसकती है। यह भावना जमी हुई थी। [४] इसी भावनासे परिपूरित होकर उपनयन संस्कारमें ब्रह्मचारी और विवाह संस्कारमें वधूको अपना पैर एक पत्थर पर रखना पडता था। इसके मूलमें क्रमशः आचार्य और पतिके प्रति दृढ भक्ति एवं निष्ठा थी।

ध्रुवतारेकी ओर देखना भी अटल स्नेह मर्यादाका लक्षण था। [५] इसी प्रकार लाजा और चावल उर्वरता तथा समृद्धिके प्रतीक थे। [६] यही कारण है कि इनका उपयोग अधिकांश संस्कारोंमें किसी न किसी रूपमें व्याप्त है। समञ्जन स्नेह और सात्विक प्रेमका प्रतीक था। [७] पुरुष नक्षत्र समूह गर्भाधान होजानेका निश्चायक समझा जाता था। [८] इसी प्रकार से पाणि ग्रहण संस्कार पत्नीका पूर्ण उत्तरदायित्व पति अपने ऊपर लेनेका माना करता था। [९] सूर्यकी ओर देखना तेजस्विता, सामर्थ्य और वैदिकताके उत्कर्षका सूचक माना जाता रहा था। [१०] इसी प्रकार प्रतीकके माध्यमसे कितने ही विश्वास हैं।

ये सहज विश्वास समयके कालक्रमानुसार तथा मानवकी रुचिके अनुरूप बदलते भी गये हैं। विभिन्न जनपदोंमें आजकल ये विभिन्न तरीकों एवं प्रतीकोंके माध्यमसे सम्पन्न होते हैं। परन्तु सर्वत्र उन प्रतीकोंके गुणों एवं महत्वोंके अनुरूप लाभ प्राप्तिकी सहज मानव धारणा स्पष्ट रूपसे नजर आती है। जो निरन्तर विकसित हो रही है।

(७) दिशा-निर्देश

दिशाओंका निर्देशन संस्कारोंकी एक महानतम तथा मुख्य विशेषता थी। जो कि पौराणिककालमें जन्मे हुए विश्वासोंपर

[१] शिक्षणज्योति मार्च ६३ 'आशीर्वाद आवश्यक भी है' से उद्धृत '

[२] जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतञ्च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः। पा. गृ. सू. १–४–१३

[३] हा. गृ. सू. २।३२ तथा पा. गृ. सू. १।१६। १४

[४] 'आरोहेममश्मानमश्मेव स्थिरा भव।'– पा. गृ. सू. १–७–१।

[५] पा. गृ. सू. १।८।९; [६] आ. गृ. सू. १।७।८; [७] गो. गृ. सू. २।१।१८; [८] पा. गृ. सू. १–११–३;

[९] गो. गृ. सू. २–२–१६; [१०] पा. गृ. सू. १–१७–६

ही आधारित है; एवं विकसित हुई है। इस सहज विश्वास-भरी धारणाके अनुसार विभिन्न दिशाओंमें विभिन्न देवताओंका निवास है।

विभिन्न जनपदोंमें दिशाओंके प्रभावोंके विषयमें तरह तरहकी धारणाएं हैं। विभिन्न धर्ममतावलम्बी भी इस विषयमें अपनी अपनी धारणाएं बनाते रहते हैं। फिर भी सामान्यतः कुछ दिशाओंके मनमें यह धारणा घर कर चुकी है कि प्रकाश, उष्णता, जीवन, सुख और श्री प्रदायक दिशा पूर्व है।

इसके विपरीत पश्चिम अन्धकार, शीत एवं मृत्युकी प्रतीक भी मानी जाती हैं। कहीं कहीं इसे शुभ भी मानते हैं।

पौराणिक मान्यताओंके अनुसार दक्षिण दिशा मृत्युके देवता यमकी दिशा है। अन्त्येष्टि संस्कारके समय चितापर मृतकका सिर दक्षिण दिशाकी ओर ही रखा जाता था और यह सामान्य विश्वास किया जाता था, कि मृतककी आत्मा यमलोककी दिशामें यात्रा करने बढ रही है।

इसी प्रकार समस्त मङ्गल संस्कारोंमें, यहां तककी संध्या-पूजन आदिमें भी पूर्व दिशामें मुख रखा जाता है। सूर्यकी कृतज्ञता यापन करते हुए उन्हें अर्घ्य दिया जाता है।

इस प्रकार दिशा-निर्देशकी धारणा मानव मनकी सहज विश्वास परता पर ही आधारित हैं। जो नई सभ्यतामें धीरे धीरे कुण्ठित भी होती जा रही है।

(८) पूजा सामग्री

संस्कारोंमें विभिन्न देवी देवताओंके षोडषोपचार पूजनमें कई प्रकारकी पूजन सामग्री काममें लाई जाती है। जिनके पीछे देवी देवताओंको प्रसन्न करके मनोवांछित फल प्राप्तिका उद्देश्य रहा है।

वैदिकयुगके पश्चात् ज्यों ज्यों देशमें अज्ञानता, अशिक्षा एवं अंध विश्वास बढते गए। त्यों त्यों पण्डो-पुरोहितोंने इनके माध्यमसे अपना उल्लू सीधा करनेके उद्देश्यसे मन्त्र रच दिए और उन्हें शास्त्र मर्यादाका स्वरूप देकर जनताको इन पर विश्वास करनेको मजबूर किया। धीरे धीरे ये धारणाएँ मानव मनमें काफी प्रबलतम जम गई।

(९) विविधतत्व

इनके अतिरिक्त अभिचार, निषेधात्मक तत्व, फलित ज्योतिष, दक्षिणा, प्रदक्षिणा आदि कई संस्कारोंके विधायक अंग है। जिनमें मानवकी सहज श्रद्धा ही अधिक स्पष्ट नजर आती है।

महात्मा बुद्ध मांसाहारी न थे

(श्री सत्यमित्र शास्त्री वेदतीर्थ महोपदेशक आ० प्र० सभा उत्तरप्रदेश)

आधुनिक मांस भोजी बौद्धाचार्यों एवं बौद्ध मतावलम्बियोंका विचार है कि महात्मा बुद्ध मांसाहारी थे किन्तु जो महात्मा दया एवं अहिंसाका अवतार हो उसे इस प्रकार लांछन, बिना किसी आधार पर लगाना ठीक नहीं है। उनके जीवन क्षेत्रकी आधार शिला ही दयासे प्रारम्भ होती है। एकदिन राजकुमार सिद्धार्थ गौतम अपने उद्यानमें विचार निमग्न बैठे थे कि नभमें उडते हुए हंसोंकी पंक्तिमेंसे एक हंस बाणसे विद्ध होकर उनके सम्मुख गिरा और छटपटाने लगा। दयासे द्रवित होकर राजकुमारने उस हंसको उठा लिया और हौजके जलसे उसके शरीरका रक्त धोकर वह उसके घावोंमें सावधानीसे पट्टी बांधने लगा। इसी समय उनका चचेरा भाई देवदत्त जो उनसे ईर्षा रखता था वहां आया और बोला इस पक्षीको मैंने मारा है। मैं इसका स्वामी हूँ इसको मुझे दे दीजिये। सिद्धार्थने पक्षी देनेसे अस्वीकार किया। अतएव परस्पर विवाद होने लगा। जिसका निर्णय न्यायाधीशके निकट पहुंचा। न्यायाधीशने निर्णय दिया कि जिसने उसकी रक्षा की है वही इस पक्षीका स्वामी है। अन्तमें राजकुमार गौतमने उसे प्राण दान दिया। वह उनके जीवनका उज्ज्वल उदाहरण है जिससे सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्धमें अपार दया थी। उन्होंने यज्ञादिमें मांस छोडनेवालोंको तथा हिंसा करनेवालोंको अनार्य कहा है।

श्लोक— न तेन अरियो होति, येन प्राणान् हिंसाति। अहिंसा सर्व्वपाणानां आरियोतिप वुचति ॥

किसी प्राणीकी हिंसा करनेवाला आर्य कभी नहीं हो सकता है। प्राणी हिंसाका उद्देश्य ही मांसाहार है। विशेषतः जो योगी होता है वह कभी मांसाहारी नहीं हो सकता है। वर्तमान बौद्धोंका विचार है वि महात्मा बुद्धने जीवनमें एकबार मांसाहार किया था। वह समय उनका अन्तिम काल है। जब ये कुशीनगर पहूंचे तब चुन्दके यहां सूकर मद्दव अर्थात् सुअरका मांस खाये थे। साथ ही अन्य शिष्यों को मांस खानेसे रोका था। यही एक प्रमाण बौद्धोंके पास है। किन्तु सबसे प्रथम यह सोचना चाहिए कि जो जन्मसे ही मांसाहारी न हो वह यकायक एक बार मांसाहार कैसे कर सकता है। यह बात सत्य है कि शूकर मद्दव शकर कन्दको कहते हैं। चूंकि यह जमीनके अन्दर होता है इसे सूकर खाता है। महात्मा बुद्ध अन्तिम समय रुग्ण थे वे ईश्वर विश्वासी इतने थे कि उन्होंने अपनी औषधी कभी नहीं की। आनन्दके कहने पर इस बार ओषधी तैयार की गई। जिसको बुद्धने चुन्दके देने पर ग्रहण किया था। उसके ग्रहण करते ही महात्मा बुद्धको अतिसार हो गया था। यही उनके मौतका कारण हुआ। सूकर मद्दव सूअरके मांसको नहीं कहा जाता है। अपितु शकर कन्द जो गोरखपुरके पास कुशीनगरकी ओर होता है उसे कहा जाता है। यह कलंक महात्मा बुद्ध पर मांसाहारी बौद्धोंने लगाया है। मांसाहारी लोगोंने केवल अपने मांस भक्षणार्थ वह प्रपंच रचा है। जैसे व्यभिचारी दुराचारी लोगोंने भगवान् कृष्ण तथा राम पर लांछन लगाया है। मांसाहारी लोगोंका कहना है कि भगवान राम शिकार क्यों करते थे। इससे सिद्ध है कि वे भी मांसाहारी थे। किंतु भगवान् राम हिंसक पशुओं एवं दुष्ट राक्षसोंका शिकार करते थे। वे मांसाहारी न थे उसी प्रकार महात्मा बुद्ध कभी मांसाहारी न थे। पाणाति पाता वेरमणि सिख्व पदं समदियामी यह पंचशीलका सिद्धांत सिद्ध करता है कि महात्मा बुद्धने प्रत्येक स्थान पर प्राणि हिंसा एवं तज्जन्य मांसाहारको सर्वदा निषेध किया है किंतु आजका बौद्ध समाज सूअर, बकरा, मुर्गा, बैल ही नहीं अपितु छिपकली, सर्प, मेढक, चूहा, पाखानेके कीडे [चांडा] तकका आहार करता है। पुनरपि वह अपनेको अहिंसाका प्रचारक एवं बुद्धका शिष्य बननेका अभिमान करता है।

मांसाहारको छोडकर ही बुद्धं शरणं गच्छामि का पाठ ठीक होगा। अन्यथा इस प्रकारके व्यवहारसे कभी बौद्ध समाज संसारका पथ प्रदर्शक नहीं बन सकता है। महात्मा बुद्ध सच्चे योगी एवं अहिंसा दयाके प्रतीक एवं उसके सच्चे स्वरूप थे। वे मांसाहारी न थे।

—प्रेषक— प्राणजीवन मोतीभाई भगत